भूमिका

गोसाईं जी के पास से बच्चों के लिये कुछ लिखने का अनुरोध आया। सोचा, बालक रवीन्द्रनाथ की कहानी ही लिखी जाय। उसी बीते हुए समय के प्रेत-लोक में घुसने की कोशिश की। आज के साथ उसके भीतर-बाहर का माप मिलता नहीं। उन दिनों के प्रदीप में जितना उजेला था उससे कहीं अधिक अंधेरा था। बुद्धि के इलाके में उस समय वैज्ञानिक सर्वे शुरू नहीं हुई थी, संभव और असंभव की चौहद्दियां उस समय एक दूसरे में उलझी हुई थीं। उस समय का विवरण मैंने जिस भाषा में लिखा है वह स्वभावतः ही सहज हुई है, बच्चों की ही भावना के अनुकूल। उमर के बढ़ने के साथ ही साथ बचपन का कल्पना-जाल जब मन से कुहासे की तरह दूर होने लगा उस समय का वर्णन करते समय भाषा तो नहीं बदली है लेकिन भाव बुद-बुद बचपन को पीछे छोड़ गया है। इस विवरण को बचपन की सीमा को अतिक्रम नहीं करने दिया गया—किन्तु अन्त में जाकर यह स्मृति किशोरावस्था के आमने-सामने आ पहुँची है। वहीं एक बार स्थिर भाव से खड़े होने पर देखा जा सकेगा कि किस प्रकार बालक की मनःप्रकृति अपने चारों ओर के विचित्र, आकस्मिक और अनिवार्य समवाय में से धीरे-धीरे परिणत हुई है। सारे विवरण को

'बचपन' नाम देने की विशेष सार्थकता यह है कि बच्चे की वृद्धि उनकी प्राणशक्ति की वृद्धि है। जीवन के आदि-पर्व में प्रधान रूप से उसीकी गति का अनुसरण करना चाहिए। जो पोषक पदार्थ उसके प्राण के साथ स्वयं ही मिल गया है उसीको अपने चारों ओर से बालक आत्मसात् करता हुआ चलता आया है। प्रचलित शिक्षा-प्रणाली से मनुष्य को बनाने की जो चेष्टा हुई है उसे उसने मामूली मात्रा में ही स्वीकार किया है।

इस पुस्तक के विषय-वस्तु का कुछ-कुछ अंश 'जीवन-स्मृति' में मिलेगा। पर उसका स्वाद अलग है—इन दोनोंका अन्तर सरोवर और झरने के अन्तर के समान है। वह है कहानी, यह है काकली; वह टोकरी में दिखती है, यह पेड़ पर। फल के साथ चारों ओर की डाल-टहनी को मिलाकर इसने प्रकाश पाया है। कुछ समय पहले एक कविता की पुस्तक में इसका कुछ-कुछ चेहरा दीखा था, किन्तु वह पद्य के फ्रिम में था। पुस्तक का नाम है 'छड़ार छवि'—लोरियों के चित्र। उसमें जो बकवास थी उसमें से कुछ तो नाबालिग़ की थी और कुछ बालिग़ की। उसमें आनंद का प्रकाश बहुत-कुछ बचपन की मौज का ही था। इस पुस्तक का बालभाषित गद्य में है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

बालक

नीचे हम रवीन्द्रनाथ की मूल बँगला कविता 'बालक' की गद्य-छाया दे रहे हैं। यह कविता पुस्तक के प्रतिपाद्य विषय और रस का सुन्दर आभास देती है।

उम्र थी तब कच्ची, हलकी देह थी पंछी की तरह, केवल डैने नहीं थे उसके। बगल की छत से कबूतरों के झुण्ड उड़ा करते, बरामदे के रेलिंग पर कौए काँव-काँव किया करते। फेरीवाला तपसी मछलियों के टोकरे को गमछे से ढँककर गली के उस पार से हाँक लगाया करता। छत पर बड़े भैया अपने कन्धे पर बेला थामे मानों सन्ध्यातारा के स्वर में स्वर साधा करते। मैं अंग्रेज़ी पाठ छोड़कर भाभी के पास आ जुटता। उनके मुख को घेरनेवाली साड़ी की किनार लाल होती। चोरी-चोरी उनके चाबियों के गुच्छे को फूल के गमले में छुपाकर कितनी ही शरारतें करके उन्हें स्नेहमय क्रोध से क्रुद्ध कर देता। साँझ होते ही अचानक किशोरी चाटुज्जे आ धमकता; उसके बाएँ हाथ में भारी-भरकम हुक्का और कन्धे पर चादर झूला करती। द्रुतलय में चटपट बोल जाता लवकुश की देहाती लोरियों का आख्यान—मेरा लिखना-पढ़ना सब धरा रह जाता। मन ही मन सोचा करता, यदि किसी छल से इस पाँचाली के गिरोह में भर्ती हो पाता तो क्लास में ऊपर चढ़ने की फ़िकिर भी सिर पर सवार न हो पाती और गान सुनाते-सुनाते नये-नये गाँवों

की सैर भी करता फिरता। स्कूल की छुट्टी होने पर घर के नज़दीक आने पर देखता, अचानक बादल उतरकर छत से सट गए हैं। आसमान को फाड़कर झमाझम वर्षा हो रही है, रास्ता पानी पर डूबता-उतराता फिर रहा है। पानी ढालते हुए नलों में ऐरावत की सूँड़ के दर्शन होते। अन्धकार में धारा का रिमझिम स्वर सुनाई पड़ता; हाय, न जाने किस द्वीपान्तर में राजकुमार रास्ता भूलकर भटक गया है! नक्शे में जिन पहाड़ों को जाना है, जिन गाँवों को पहचाना है—हुमनल्डन और मिसिसिपी और ह्यांगसिकियांग—ज्ञात के साथ अर्द्धज्ञात—दूर से सुने हुए, नाना रंगों के नाना तानों-बानों को जोड़-जाड़कर जाल बुन लेना, नाना प्रकार की ध्वनियों के इशारे पर नाना भाव से चलना-फिरना—इन सबके मेल से निर्मित एक हल्की-फुल्की दुनिया जैसे मन की कल्पना द्वारा घिरी हुई थी। चिन्ता फिकिर उसीके बीच इस तरह रह-रहकर उड़ती फिरतीं जैसे बाढ़ के पानी में सेवार या मेघों के तले पंछी उड़ा करते हैं।

मेरा बचपन

रवीन्द्रनाथ १४ वर्ष

बीचमें बैठे हुए ज्योनिरिन्द्रनाथ

आर से सत्येन्द्रनाथ की पत्नी सत्येन्द्रनाथ ज्योतिरिन्द्रनाथ की पत्नी

मेरा बचपन

१

मैंने जन्म लिया था पुराने कलकत्ते में। शहर में उन दिनों छकड़े छड़-छड़ करते हुए धूल उड़ाते दौड़ा करते और रस्सीवाले चाबुक घोड़ों की हड्डी-निकली पीठ पर सटासट पड़ा करते। न ट्राम थी, न बस और न मोटर गाड़ी। उन दिनों काम-काज की ऐसी दम फुला देनेवाली ठेलमठेल नहीं थी। इतमीनान से दिन कटा करते थे। बाबू लोग तम्बाकू का कश खींचकर पान चबाते-चबाते आफ़िस जाते—कोई पालकी में और कोई साझे की गाड़ी में। जो लोग पैसेवाले थे, उनकी गाड़ियों पर तमग़े लगे होते। चमड़े के आधे घूँघटवाले कोचबक्स पर कोचवान बैठा करता, जिसके सिरपर बांकी पगड़ी लहराती रहती थी। पीछे की ओर दो-दो सईस खड़े रहते, जिनकी कमरमें चँवर झूलते होते। स्त्रियों का बाहर आना-जाना बन्द दरवाज़े की पालकी

के दम घुटा देनेवाले अँधेरे में हुआ करता। गाड़ी पर चढ़ना शर्म की बात थी। धूप और वर्षा में उनके सिर पर छाता नहीं लग सकता था। किसीके बदन पर शमीज़ और पैर में जूता दिख गया, तो इसे मेम साहबी फैशन कहा जाता; मतलब यह होता कि इसने लाज-हया घोलकर पी ली है। कोई स्त्री यदि अचानक परपुरुष के सामने पड़ जाती, तो उसका घूँघट सट्टाक-से नाक की फुनगी को पार कर जाता और वह जीभ दाँतों-तले दबाकर झट पीठ फिरा देती। घर में जैसे उनका दरवाज़ा बन्द हुआ करता, वैसे ही बाहर निकलने की पालकी में भी। बड़े आदमियों की बहु-बेटियों की पालकी पर एक मोटे घटाटोप-सा पर्दा पड़ा रहता, जो देखने में चलते-फिरते कब्रगाह के समान लगता। साथ-साथ पीतल की गोपवाली लाठी लिये दरबानजी चला करते। इनका काम था दरवाज़े पर बैठकर घर अगोरना, गलमुच्छे सहलाना, बैंक में रुपये और रिश्तेदारी में स्त्रियों को पहुचाना और त्योहार के दिन बन्द पालकी-समेत मालकिन को गंगा में से डुबकी लगवा लाना। दरवाज़े पर फेरीवाले अपना सन्दूकचा सजाके आया करते, जिसमें शिवनन्दन का भी हिस्सा हुआ करता।

और फिर भाड़ेवाली गाड़ी का गड़ीवान था, जो बाँट-बखरेके मामले में नाराज़ होता, तो ड्योढ़ी के सामने पूरा टंटा खड़ा कर देता। बीच-बीच में हमारा पहलवान जमादार शोभाराम बाँह कसता, वज़नदार मुद्गर घुमाता, बैठा-बैठा भंग घोंटता और कभी-कभी बड़े आराम से पत्ता-समेत कच्ची मूली चबा जाता; और हम लोग उसके कान के पास ज़ोर से चिल्ला उठते—'राधाकृष्ण'। वह जितना ही हाँ-हाँ करके हाथ-पैर पीटता, उतनी ही हमारी ज़िद बढ़ती जाती। इष्टदेवता का नाम सुनने की यह उसकी फंदी थी।

उन दिनों शहर में न तो गैस थी, न बिजली-बत्ती। बाद में जब मिट्टीके तेल का उजेला आया, तो हम उसका तेज देखकर हैरान हो रहे। साँझ को फरास आता और घर-घर रेंडीके तेल का दीया जला जाता। हमारे पढ़नेके घर में दो बातियों का एक दीया दीवटपर जला करता।

मास्टर साहब टिमटिमाते प्रकाश में प्यारी सरकार की फर्स्ट बुक पढ़ाया करते। मुझे पहले तो जम्हाई आती, फिर नींद; और फिर आँख की मीजाई शुरू होती। बारबार सुनना पड़ता कि मास्टर साहब का कोई एक दूसरा विद्यार्थी सतीन लड़का बया है, सोनेका टुकड़ा है।

पढ़ाईमें ऐसा दिल लगाता है कि लोग अचरज करते हैं। नींद आती है, तो आँखों में मुट्ठी की मुक्की रगड़ लेता है। और मैं? न कहना ही अच्छा है। सब लड़कों में अकेले मूर्ख होकर रहने के समान गंदी भावना भी मुझे होश में न ला पाती। रात नौ बजे जब आँखें नींदसे ढुलमुला जातीं, तो छुट्टी मिलती। बाहर के बैठकखानेसे घरके भीतर जाने के सँकरे रास्तेपर झिलमिल (वेनेशियन ब्लिंड) का पर्दा टँगा होता और ऊपर टिमटिमाते हुए प्रकाशकी लालटेन झूला करती। जब मैं उधरसे गुज़रता, तो दिल कहता रहता कि न जाने क्या पीछा कर रहा है। पीठ सनसना उठती। उन दिनों भूत-प्रेत किस्से कहानियो में रहा करते और आदमी के मन के कोने-कोने में विराजमान होते। कोई महरी अचानक चुड़ैल की नकियान सुनती और धड़ाम-से पछाड़ खाकर गिर पड़ती। यह भूतनी ही सबसे अधिक बदमिज़ाज थी। यह मछली पर ज्यादा चोट करती थी। घरके पश्चिमी कोने पर एक घने पत्तोंवाला बादामका पेड़ था। एक पैर इसकी डाल पर और दूसरा पैर तितल्ले के कार्निस पर रखकर कोई एक मूर्ति प्रायः ही खड़ी रहा करती—इसे देखा है, ऐसा कहनेवाले उन दिनों अनेक

थे। विश्वास करनेवाले भी कम नहीं थे। बड़े दादा के एक मित्र जब इन गप्पों को हँसकर उड़ा देते तो नौकर-चाकर समझते कि इस आदमी को धरम-करम का ज्ञान एकदम है ही नहीं; जब एक दिन गर्दन मरोड़ देगा, तो सारा ज्ञान बघारना निकल जायगा। आतंक ने उन दिनों चारों ओर अपना जाल ऐसा फैला रखा था कि मेज़ के नीचे पैर रखने से पैर सनसना उठते थे।

तब पानी का नल नहीं लगा था। माघ-फागुनके महीनों में कहार काँवर भर-भरकर गंगासे पानी लाते थे। एकतल्ले के अँधेरे घर में बड़े-बड़े कुंडे रखे हुए थे। इन्हींमें साल भर के लिए पानी रखा रहता। उन सीड़भरी अँधेरी कोठरियों में जो लोग डेरा डाले हुए थे, कौन नहीं जानता कि वे मुँह बाये रहते थे, आँखें उनकी छाती पर हुआ करती थीं, दोनों कान सूप के समान होते थे और दोनों पैर उल्टी तरफ़ मुड़े हुए होते थे। मैं उस भुतही छाया के सामने से मकान के भीतर के बगीचे की ओर जाता, तो हृदय कि भीतर उथल-पुथल मच जाती, पैर में तेज़ी आ जाती।

उन दिनों रास्ते के किनारे-किनारे नाले बँधे हुए थे। ज्वार के समय उन्हीं से होकर गंगा का पानी आया

करता। बाबा के ज़माने से ही उस नाले के पानी का हक़दार हमारा तालाब रहता आया था। जब किवाड़ खोल दिये जाते, तो भर-भर कल-कल करता हुआ पानी झरने के समान झरता और नीचे का हिस्सा फेन से भर जाता। मछलियों को उलटी तरफ़ तैरने की क़सरत दिखाने की सूझती। मैं दक्खिनके बरामदेकी रेलिंग पकड़कर अवाक् होकर देखा करता। आख़िरकार उस तालाब का काल भी आ पहुँचा और उस में गाड़ियों में भर-भरकर गंदगी डाली जाने लगी। तालाब के पटने ही देहाती हरियाली की छायावाला वह आईना भी मानो टूट गया। वह बादामवाला पेड़ अब भी खड़ा है; लेकिन पैर फैलाकर खड़े होने की इतनी सुविधा होते हुए भी उस ब्रह्मदैत्य का पता अब नहीं चलता।

भीतर और बाहर प्रकाश बढ़ गया है।

२

पालकी दादी के जमाने की थी—काफ़ी लम्बी-चौड़ी, नवाबी क़ायदे की। दोनों डण्डे आठ-आठ कहारों के

कन्धे की माप के थे। हाथों में सोने के कंगन, कानों में सोने के कुण्डल और शरीरपर लाल रंग की हथकट्टी मिरजई पहनने वाले वे कहार भी पुरानी धन-दौलत के साथ उसी तरह लोप हो गये, जैसे डूबते हुए सूर्य के साथ ही रंगीन बादल। पालकी के ऊपर रंगीन लकीरों के कटाव कटे हुए थे। इसके कुछ हिस्से घिस-घिसाकर नष्ट हो गये थे। जहाँ-तहाँ दाग लगे हुए थे और भीतर के गद्देमें से नारियलके भिरकुट बाहर निकल आये थे। यह मानो इस ज़माने का कोई नाम-कटा असबाब था, जो खज़ांचीखाने के एक कोने में डाल दिया गया था। मेरी उम्र इन दिनों सात-आठ साल की होगी। इस संसारके किसी ज़रूरी काममें मेरा कोई हाथ नहीं था और यह पुरानी पालकी भी सभी ज़रूरत के कामों से बरखास्त कर दी गई थी। इसीलिए उसपर मेरे मन का इतना खिंचाव था। वह मानो समुद्र के बीच का एक छोटा-सा टापू थी और मैं छुट्टी के दिन का राबिन्सन क्रूसो, जो बन्द दरवाज़े में गुमराह होकर चारों ओर की नज़र बचाकर बैठा होता।

उन दिनों हमारा घर आदमियों से भरा था। कितने अपने, कितने पराये, कुछ ठीक नहीं। परिवार के अलग-

अलग कई महकमों के दास-दासियों का शोर-गुल बराबर मचा रहता था।

सामने के आँगन से पियारी महरी काँख-तले टोकरी दबाये साग-भाजी का बाज़ार किये आ रही है। छुक्कन कहार कन्धे पर काँवर रखकर गंगा का पानी ले आ रहा है। ताँतिन नये फ़ैशन की पाढ़वाली साड़ी का सौदा करने घर के भीतर घुसी जा रही है। माहवारी मजूरी पानेवाला दीनू सुनार, जो पास की गली में बैठा-बैठा भाथी फसफसाया करता है और घर की फर्माइशें पूरी करता रहता है, खजांचीखाने में कान में पाँख की कलम खोंसे हुए कैलाश मुखुज्जे के पास अपने बकाया का दावा करने चला आ रहा है। आँगन में बैठा हुआ धुनिया पुरानी रजाई की रूई धुन रहा है। बाहर काने पहलवान के साथ मुकुन्दलाल दरबान लस्टम-पस्टम करता हुआ कुश्ती के दाँव-पेंच भर रहा है। चटाचट आवाज़ के साथ दोनों पैरों में चपेटा मारता जा रहा है और बीस-पचीस बार लगातार डण्ड पेल लेता है। भिखारियों का दल अपने हिस्से की भीख के आसरे में बैठा हुआ है।

दिन चढ़ता जाता है, धूप कड़ी होती आती है, डेवढ़ी पर घण्टा बज उठता है। पर पालकी के भीतर

का दिन घण्टे का हिसाब नहीं मानता। वहाँ का 'बारह बजे' वही पुराने ज़माने का है, जब राजभवन के सिंहद्वार पर सभा-भंग का डंका बजा करता, राजा चन्दन के जल से स्नान करने उठ जाते। छुट्टी के दिन दोपहरी को मैं जिनकी देख-रेख में हूँ, वे सभी खा पी कर सो रहे हैं। अकेला बैठा हूँ। चलने का रास्ता मेरी ही मर्ज़ीपर निकाला गया है। उसी रास्ते मेरी पालकी दूर-दूर के देश-देशान्तर को चली है। उन देशों के नाम मैंने ही अपनी किताबी विद्या के अनुसार गढ़ लिये हैं। कभी कभी रास्ता घने जंगल के भीतर घुस जाता है, (जहाँ) बाघ की आँखें चमक रही है। शरीर सनसना रहा है। साथ में विश्वनाथ शिकारी है। वह उसकी बन्दूक धाँयसे छूटी। बस, सब चुप। इसके बाद एक बार पालकी का चेहरा बदल गया। वह बन गई मोरपंखी बजरा, वह चली समुद्र में। किनारा दिखाई नहीं देता। डाँड पानी में गिर रहे हैं—छप्-छप् छप्-छप्। लहरें उठ रही हैं—हिलती-डुलती, फूलती-फुफुकारती। मल्लाह चिल्ला उठते हैं—सम्हालो, सम्हालो, आंधी आई। पतवार के पास अब्दुल माझी बैठा है—नुकीली दाढ़ी, सफाचट मूँछें घुटी चांद। इसे मैं पहचानता हूँ। वह दादा के

लिए पद्मा में से मछली ले आ देता है और ले आता है कछुए के अण्डे।

उसने मुझे एक कहानी सुनाई थी। एक दिन चैत के महीने के अन्त में जब कि वह डोंगी से मछली मारने गया था, अचानक कालबैशाखी की आँधी आ गई।

भयंकर तूफ़ान। नाव अब डूबी, अब डूबी। अब्दुल ने दांतसे रस्सी पकड़ी और कूद पड़ा पानी में। तैरकर रेती पर आ खड़ा हुआ और रस्सी से खींचकर अपनी डोंगी निकाल लाया।

कहानी इतनी जल्दी खतम हो गई, यह मुझे अच्छा नहीं लगा। नाव डूबी नहीं, यों ही बच गई, यह तो कोई कहानी ही नहीं हुई। बार-बार पूछने लगा, फिर क्या हुआ? उसने कहा—फिर तो एक नया टण्टा खड़ा हो गया। क्या देखता हूँ कि एक लकड़बग्घा है। ये बड़ी-बड़ी उसकी मूँछें हैं। आंधी के समय उस पार के गंजघाटवाले पाकड़ के पेड़ पर चढ़ गया था। इधर आँधी का एक झोंका लगा, उधर सारा पेड़ पद्मा नदी में आ गिरा। और बाघराम बह चले पानी की धार में। पानी पीते-पीते उसका दम फूल गया था। वह उसी रेतीपर आ खड़ा हुआ। उसे देखते ही मैंने अपनी

रस्सी में फसरी लगाई। वह बाघ भी बड़ी-बड़ी डरावनी आँखें लाल किये हुए ठीक मेरे सामने आ खड़ा हुआ। तैरने से उसे भूख लग आई थी। मुझे देखते ही उसकी लाल लाल जीभसे लार टपकने लगी। बाहरके और भीतरके बहुतेरों से उसकी जान पहचान हो गई है; पर बचा अब्दुल को नहीं पहचानते। मैंने ललकारा, आ जाओ बचाराम। इधर वह दोनों पैरों पर खड़ा होता है, उधर मैंने गले में फँसरी डाल दी। छुड़ाने के लिए बच्चू जितने ही छटपटाते है, उतनी ही फँसरी कसती जाती है। अन्त में जीभ निकल आई। यही तक सुनकर मैं हड़बड़ाकर बोल उठा—अब्दुल, वह मर गया क्या? अब्दुल बोला—मरेगा कैसे? उसके बाप की मजाल है! नदी में बाढ़ आई है। बहादुरगंज तक तो लौटना है न? डोंगी में बाँधकर इस बाघ के पट्ठे से कम-से-कम बीस कोस रास्ता खिंचवाया। गों-गों करता रहता था और मैं ऊपरसे पेट में डाँड़ से खोंचता रहता था। दस-पन्द्रह घंटे का रास्ता डेढ़ घंटे में पहुँचा दिया। इसके बादकी बात अब मत पूछो लल्ला, जवाब नहीं मिलेगा। मैंने कहा, बहुत अच्छा। बाघ तो हुआ, अब घड़ियाल की कहो। अब्दुल ने कहा—पानी के ऊपर

उसकी नाक की फुनगी मैंने कई बार देखी है। नदी के ढालुए किनारे पर जब वह पैर फैलाकर सोया हुआ धूप तापता रहता है, तो जान पड़ता है कि वहीं बुरी हँसी हँस रहा है। बन्दूक होती, तो मुक़ाबला किया जाता। ल्याइसेंस ख़त्म हो गया है।

लेकिन एक मज़ेदार बात हुई। पाँची बेदनी तीर पर बैठी दाव से बत्ता छील रही थी उसका मेमना पास ही बँधा था। न जाने कब एक घड़ियाल नदी से बाहर निकला और मेमने की टाँग पकड़कर उसे पानी में घसीट ले गया। बेदनी झट कूदकर उसकी पीठ पर सवार हो गई। दाव से उस गिरगिट-दैत्य (घड़ियाल) के गले पर लगी छेंच मारने। और मेमने को छोड़कर वह जन्तु पानी में डूब गया। मैंने व्यस्त होकर पूछा, फिर क्या हुआ? अब्दुल ने कहा, उसके बाद की ख़बर तो पानी में ही डूब गई। निकालकर बाहर ले आने में देर लगेगी। दूसरी बार जब भेंट होगी, तो चर भेजकर उसकी तलाश कराऊँगा। लेकिन वह फिर लौटा नहीं। शायद तलाश करने गया है।

यह तो थी पालकी के भीतर मेरी यात्रा। पालकी के बाहर मेरी मास्टरी चलती। सारे रेलिंग मेरे विद्यार्थी

थे। मारे डर के चुप रहा करते। एकाध बड़े शरारती थे। पढ़ने-लिखने में बिल्कुल मन नहीं लगाते थे। उन्हें मैं डर दिखाया करता कि बड़े होने पर कुली का काम करना पड़ेगा। मार खाते-खाते इनके शरीर में नीचे से ऊपर तक दाग़ निकल आये थे, फिर भी इनकी शरारत जाती नहीं थी, क्योंकि यदि इनकी शरारत रुक जाती तो काम कैसे चलता, खेल ही ख़त्म हो जाता। काठ के एक सिंह को लेकर एक और खेल भी था। पूजा में बलिदान की कहानी सुनकर सोचा था सिंह को बलि देने पर एक भारी बावेला खड़ा हो जायगा। उसकी पीठपर लकड़ी से कई झटके मारे। मन्तर बना लेना पड़ा था नहीं तो पूजा ही न हो पाती :—

सिंगि (सिंह) मामा काटम
आन्दिबोसेर बाटुम
उलकुट् डुलकुट् ढैमकुड़्कुड़्
आखरोट बाखरोट खट-खट खटास
पटपट पटास।

इस में प्रायः सभी शब्द उधार के थे। केवल 'आखरोट' (=अखरोट) मेरा अपना है। अखरोट मुझे बहुत पसंद थे। खटास शब्द से जान पड़ेगा कि मेरा

खड्ग काठ का था और पटाख शब्द बना देता है कि वह मज़बूत नहीं था।

३

कल रात से ही बादलों ने कुछ उठा नहीं रखा है; पानी बरसता ही जा रहा है। पेड़ बेवकूफ़ की तरह जबदे खड़े हैं। चिड़ियों की आवाज़ बन्द है। आज याद आ रही है अपने बचपन की साँझ।

उन दिनों हमारा यह समय नौकरों के साथ बीतता। तब भी अंग्रेज़ी शब्दों के हिज्जे और माने याद करने की छाती धड़कनेवाली साँझ हमारी गर्दन पर सवार नहीं हुई थी। सँझले दादा कहा करते थे कि पहले बँगला भाषा की कुटाई हो लेनी चाहिए, तब फिर उसके ऊपर अंग्रेज़ी भाषा की नींव दी जा सकती है। इसीलिए उस समय जब टोले मुहल्ले के हमारी उमर के और पढ़ाक लड़के धड़ाधड़ घोख जाते I am up मैं हूँ ऊपर, He is down वह है है नीचे, तब तक मेरी विद्या बी-ए-ट बैड, एम-ए-डी मैड तक भी नहीं पहुँची थी।

नवाबी ज़बान में उन दिनों नौकर-चाकरों के हिस्से के मकान को तोशाखाना कहा जाता था। यद्यपि पुरानी अमीरी से हमारा मकान बहुत नीचे उतर आया था, फिर भी तोशाखाना, दफ्तरखाना, बैठकखाना—ये सब नाम दीवार से चिमटे हुए पड़े थे।

इसी तोशाखाने के दक्खिणी हिस्से के एक घरमें काँचकी दीवटपर रेंड़ीके तेलका एक दीया टिमटिमा रहा है। दीवार पर गणेश-मार्का तस्वीर और काली मैया का पट लगा हुआ है। पास ही छिपकली कीड़ों के शिकार में मशगूल है। घर में और कोई सामान नहीं है। फर्शपर एक मैली चटाई बिछी हुई है।

यहाँ बता रखूँ कि हमारी चाल-ढाल गरीबों-जैसी थी। गाड़ी-घोड़े की कोई बला नाममात्र को ही थी। बाहर कोने की ओर इमली के पेड़ के नीचे फूस के घर में एक बग्घी और एक बूढ़ा घोड़ा बँधा रहता था। पहनने के कपड़े निहायत सादे होते थे। पैर में मोजा लगाने की नौबत बहुत देर के बाद आई थी। जब ब्रजेश्वर के चिट्ठे को लाँघकर जलपान में पावरोटी और केले के पत्ते में लपेटा हुआ मक्खन नसीब हुआ, तो ऐसा लगा, मानो आसमान हाथकी पहुँच के भीतर आ गया हो। पुराने

जमाने की बड़े आदमीयत को सहज ही मान लेने की तालीम चल रही थी।

हमारी इस चटाई-चिट्ठी महफिल का जो सर्दार था, उनका नाम था ब्रजेश्वर। सिर और मूँछों के बाल गंगा-जमुनी, मुँह के ऊपर झूलती हुई सूखी झुर्रियाँ गम्भीर मिज़ाज, कड़ा गला, चबा चबा कर बोली हुई बातें। उनके पुराने मालिक लक्ष्मीकान्त नामी-गरामी रईस थे। वहाँ से उसे उतरना पड़ा था—हमारे-जैसे उपेक्षामें पले लड़कों की निगरानी के काम में। सुना था, गांव की पाठ्शाल में वह गुरुगीरि का काम कर चुका था। वह गुरुआनी चाल और बोली उसके पास अन्त तक बनी रही। "बाबू लोग बैठे हैं"—ऐसा न कहकर वह कहता—"प्रतीक्षा कर रहे हैं।" सुनकर मालिक लोग आपस में हँसा करते। जैसा ही उसका गुमान था, वैसी ही पवित्रता की बाई भी थी। स्नान के समय जब तालाब में उतरता, तो ऊपर के पानीको, जिस में तेल उतराता रहता था, पाँच-सात बार ठेलता और फिर घप्प-से डुबकी लगा लेता। स्नान के बाद ब्रजेश्वर इस प्रकार हाथ सिकोड़कर चलता, मानो किसी प्रकार विधाता की इस गन्दी धरती से बचकर चलने से ही उसकी जाति बच

सकेगो। चाल-चलनमें कौन-सी बात अच्छी है, कौन-सी बुरी, इसे वह एक ख़ास लहजे में ज़ोर देकर कहा करता। इधर उसकी गर्दन भी कुछ टेढ़ी थी, इससे उसकी बात की इज़्ज़त भी बढ़ जाती। किन्तु इन सारी बातों के होते हुए भी उसकी गुरुगीरी में एक दोष भी था। भीतर ही भीतर -उसके मनमें भोजन का लोभ दबा हुआ था। हमारी थालियों में पहले से ही अच्छी तरह सबके हिस्से का खाना परोस रखने की उसकी आदत न थी। जब हम खाने बैठते, तो एक-एक पूड़ी अलग से ही हाथमें झुलाता हुआ पूछता, और दूँ? कौन-सा जवाब उसके मन-माफ़िक है, यह बात उसके गले की आवाज़ से भली-भाँति समझ में आ जाती थी। अक्सर मैं यही जवाब देता कि कुछ नहीं चाहिए। फिर इसके बाद वह कोई आग्रह न करता। दूध के कटोरे पर भी उसका खिंचाव उसकी सम्हाल के बाहर था। उसके घर में एक छोटी शेल्फवाली आलमारी थी। उसीमें पीतल के कटोरे में दूध और काठ के कठौते में पूड़ी-तरकारी रखी होती। बिल्ली का लोभ जाली के बाहर की हवा सूँघ-सूँघकर चक्कर मारा करता।

इसी तरह थोड़ा खाना मुझे बचपन से ही बड़े मजे में

बर्दाश्त हो गया। वैसे कहूँ, इस कमज़ुगाकी से मैं कमज़ोर हो गया था। जो लड़के खाने में कसर नहीं रखते थे उनकी तुलना में मेरे शरीर में ज़ोर कुछ ज्यादा ही था, कम तो हर्गिज़ नहीं। शरीर इस बुरी तरह से तन्दुरुस्त था कि स्कूल से भागने का इरादा जब हैरान करने लगता, तो शरीर पर तरह-तरहके ज़ुल्म करके भी उसमें बीमारी नहीं पैदा कर पाता। पानी में भिगोया हुआ जूता पहनकर दिन भर घूमता रहा, सर्दी नहीं हुई। कातिक के महीने में खुली छत पर सोया किया, कुर्ता और बाल भीग गये; लेकिन गले में ज़रा-सी खुस-खुसाहटवाली खाँसी का आभास भी नहीं पाया गया। और पेट में दर्द नामक भीतरी बदहज़मी की जो सूचना मिला करती है, उसे मैंने कभी पेट में अनुभव ही नहीं किया, सिर्फ़ ज़रूरत के समय माँ को मुँह से कहकर बता दिया है। सुनकर माँ मन ही मन हँसतीं। ज़रा भी चिन्ता करती हों, ऐसा कभी नहीं जान पड़ा। तो भी नौकर को बुलाकर कहतीं—जा मास्टर से कह दे कि आज पढ़ाने की ज़रूरत नहीं। हमारी उस जमाने की माँ सोचतीं, लड़का अगर बीच-बीच में पढ़ाई में थोड़ी कोताही कर ले, तो इससे ऐसा क्या नुकसान हुआ जाता है।

आजकल की माँ के हाथ पड़ता, तो मास्टर के पास तो जाना ही पड़ता, ऊपर से कान भी मल दिया जाता। शायद ज़रा हँसकर (आधुनिक माँ) कास्टर आयल भी पिला देतीं। बीमारी हमेशाके लिए दूर हो जाती। दैवयोग से यदि मुझे कभी ज्वर आ भी जाता, तो कोई उसे ज्वर या बुखार कहता ही नहीं। कहता—शरीर गरम हुआ है। नीलमाधव डाक्टर आते, थर्मामीटर तो उन दिनों आँखों से देखा भी न था। डाक्टर ज़रा शरीर पर हाथ रखकर ही पहले दिन तो कास्टर आयल और उपवासकी व्यवस्था करते। पानी बहुत थोड़ा पीने को मिलता; जो मिलता, वह भी गर्म। उसके साथ इलायची के दाने चल सकते थे। तीन दिन के बाद ही मौरला मछली का शोरबा और ख़ूब गला हुआ भात उपवास के बाद अमृत जैसा लगता।

बुख़ार में पड़ा रहना किसे कहते हैं, याद नहीं आता। मलेरिया शब्द सुना ही नहीं था। वह तेल उल्टी कराने वाली दवाओं का राजा था; किन्तु कुनाइन की याद नहीं आती। फोड़ा चीरनेवाली छुरी की खरोंच शरीर पर किसी दिन भी अनुभव नहीं की। माता या गोटी

निकलना किसे कहते हैं, आज तक नहीं जान सका। शरीर में उबा देनेवाली एक ही जैसी तन्दुरुस्ती बराबर बनी रही। माताएँ यदि अपने बच्चों के शरीर को इतना नीरोग बनाना चाहती हों कि वह मास्टर के हाथसे बचने का मौका न पा सके, तो उन्हें ब्रजेश्वर के समान नौकर खोजना चाहिए। खानेके खर्च के साथ ही साथ वह डाक्टर का खर्च भी बचायगा—विशेषकर इन दिनों जब कल के आटे का और घासलेटी घी का प्रचार बढ़ा हुआ है। एक बात याद रखने की है। उन दिनों बाजार में चाकलेट नहीं दिखाई दिया था। मिलती थीं एक पैसे दामवाली गुलाबी रेवड़ियाँ। गुलाबी खुशबू से बसे हुए ये तिल से ढके चीनी के ढेले आज भी लड़कों की जेब चटचटा देते हैं कि नहीं, पता नहीं। ये (रेवड़ियाँ) निश्चय ही आजकल के मानी लोगों के घरों से मारे शर्मके भाग खड़ी हुई हैं। वे भुने मसालेवाले ठोंगे आज कहाँ चले गए? और वह सस्ते दामों का तिलवाला गजा? वह क्या अब भी टिका हुआ है? न टिका हो, तो फिर लाने की कोई ज़रूरत नहीं।

ब्रजेश्वर के पास प्रतिदिन बैठकर मैंने कृत्तिवास का सातों काण्ड रामायण सुना है। उसी पाठ के सिलसिले

में बीच में किशोरी चाटुज्जे आ जाता। उसे सारे रामायण की 'पाँचाली'* सुर-समेत याद थी। वह अचानक आसन को दखल कर लेता और कृत्तिवास को तोप कर हड़हड़ाते हुए अपनी पाँचाली का पाठ सुना जाता—'ओरे रे लक्खन ए कि अलक्खन, विपद घटेछे विलक्खन।' उसके मुँह पर हँसी और माथे पर गंजी चाँद चमकती रहती। गले से काव्य रचना की पंक्तियाँ झरने के समान कलरव करती हुई झरा करती और पद-पदपर तुक इस प्रकार बज उठते, जैसे पानी के नीचे लुढ़ियाँ। इसके साथ ही हाथ-पैर हिला हिलाकर भाव बताने का काम भी चलता रहता। किशोरी चाटुज्जे का सबसे बड़ा अफ़सोस यह था कि दादाभैया—अर्थात् मैं—ऐसा सुन्दर गला पाकर भी पांचालीवालों के दल में भरती न हो सके। हो सकते, तो फिर भी देश में एक नाम रह जाता।

रात हो आती और बिछी चटाईवाली यह मजलिस भी भंग हो जाती। भूत के भय को पीठ की रीढ़ पर लाद के घर के भीतर माँ के कमरे में चला जाता। माँ

* किसी पौराणिक कथाका गीतिकाव्यात्मक रूप।

उस समय अपनी काकी के साथ ताश खेलती होती। पंख का काम किया हुआ घर हाथीदांत के समान चमकता रहता। एक बड़ी-सी चौकी पर जाजिम बिछी होती। मैं जाते ही ऐसा उत्पात शुरू कर देता कि वे हाथ के पत्तों को फेंककर बोल उठतीं—लगा ऊधम मचाने। जाओ काकी, इनको कहानी सुनाओ।—हम लोग बाहर के बरामदे में रखे हुए लोटे के पानी से पैर धो-धा कर नानी को खींचकर बिछौने पर ले जाते। वहाँ दैत्यपुरी से राजकन्या की नींद उचटा लाने का अंक शुरू होता। लेकिन बीच में मेरी नींद को कौन उचटाये? रात के पहले पहर में स्यार चिल्ला उठते। तब भी स्यार की आवाज़वाली रात कलकत्ते के किसी-किसी पुराने घर की भीत के नीचे चिल्ला उठती।

४

हम जब छोटे थे, तो कलकत्ता शहर की चहल-पहल आज-जैसी नहीं थी। आजकल सूरज के उजेलेका दिन ज्योंही खतम हुआ कि बिजली के उजेले का दिन शुरू

हो जाता है। उस समय शहर मे काम तो कम होता है; पर विश्राम बिल्कुल नहीं। मानो चूल्हे में जलती हुई लकड़ी के बुझ जानेपर भी जलते कोयलेकी आँच रह गई है। इस समय तेल-कल नहीं चलते, स्टीमरकी सीटी बन्द हो गई होती है, कारख़ाने से मज़दूर निकल गये होते है और पाट की गाँठ ढोनेवाले गाड़ी के भैंसे टीन की छतवाले शहरी खरिक में चले जाते है। दिनभर नाना चिन्ताओं से जिस शहर का माथा धधकती हुई आग बना हुआ था, उसकी नाड़ी मानो अब भी धधक रही है। रास्ते के दोनों ओर की दूकानों की ख़रीद-बिक्री वैसी ही है, मानो आग सिर्फ़ थोड़ी-सी राख से ढकी हुई है। तरह-तरह की आवाज़ें करती हुई हवा-गाड़ियां चारों ओर छूट रही है। इनकी दौड़ के पीछे मतलब या गरज की धकेल कम ही होती है। हमारे उस पुराने ज़माने में दिनके ख़त्म होते ही कामकाज की बचतवाला हिस्सा शहर की बची-बुझी निचली तह में काली कमली तानकर चुपचाप सो रहता। घर में और बाहर भी साँझ का आकाश निस्तब्ध हो जाता। ईडेन गार्डेन और गंगा के किनारे शौकीन लोगों को हवा खिलाकर लौटती हुई गाड़ियों के सईसों की होऽहोऽआवाज़ रास्ते से सुनाई देती। चैत-

बैसाख के महीने में कन्धेपर फेरी लगानेवाले हाँक देते कहते- बर्फ़। एक हाँडी में बर्फ़ दिया हुआ नमकीन पानी हुआ करता, जिसमें टीन के चोंगों में वह चीज़ बन्द होती, जिसे कुल्फ़ी का बर्फ़ कहा जाता था। आजकल उसे आइस या आइस-क्रीम कहते हैं। रास्ते की ओर मुँह करके बरामदे में जब मैं खड़ा होता और वह आवाज़ सुनाई देती, तो मन कैसा होने लगता था, यह मन ही जानता है। और एक आवाज़ थी 'बेल-फूल'। न जाने क्यों आजकल बसन्तकाल के मालियों की उन फूल-डालियों की ख़बर नहीं मिलती। उन दिनों घरवालियों के जूड़े मे बेले की माला की खुशबू हवा में फैल जाया करती। हाथ मुँह धोने जाने के पहले स्त्रियाँ घर के सामने बैठकर हाथ में आईना लिए हुए केश सँवारतीं। बिनाई की हुई पाटी से बड़ी कारीगरी से जूड़े बाँधे जाते। उनके पहनावे में फराशडांगा की काली किनारीवाली साड़ी होती, जिसे चुनकर लहरदार बना दिया जाता। नाइन आती और झाँवें से पैर रगड़कर महावर दे जाती। ये नाइन ही स्त्रियों के दरबार में ख़बर फैलाने के काम आतीं। उन दिनों कालेज और आफ़िस से लौटते हुए दल ट्राम के पायदान पर धक्का-मुक्की करते हुए फुटबाल के मैदान की

ओर भागा नहीं करते थे और लौटती बार उनकी भीड़ सिनेमा हाल के सामने भी नही जमती थी। नाटक के अभिनय में एक बार उत्साह दिखा था, पर क्या बताऊँ, उन दिनों हम बच्चे थे।

उस समय बड़ों के दिलबहलाव में बच्चे दूर से भी हिस्सा नही बँटा पाते थे। हम कभी हिम्मत करके नज़दीक पहुँच भी जाते, तो सुनना पड़ता—कि जाओ खेलो। और फिर भी यदि लड़के खेलते समय जैसा चाहिये वैसा हल्ला गुल्ला करते, तो सुनना पड़ता—हल्ला मत करो, चुप रहो। यह बात नही है कि बड़ों का हँसी-खेल सब समय चुपचाप ही होता हो। इसीलिए कभी-कभी दूर से उसमें का कुछ झरने के फेन के समान हमारी ओर भी छिटक ही पड़ता। मैं जब इस घर के बरामदे से झुककर उधर ताकता, तो देखता कि वह घर प्रकाश से चमक रहा है। ड्योढ़ी के सामने बड़ी-बड़ी बग्घियाँ आकर खड़ी हुई हैं। सदर दरवाजे पर बड़े भाइयों में से कोई अतिथियों की अगवानी करके ऊपर ले जा रहे हैं, गुलाबपाश से उनपर गुलाब छिड़क देते हैं और हाथ में फूलों का एक-एक तोड़ा दे रहे है। कभी-कभी नाटक से किसी कुलीन महिला की रुलाई की सिसकन

की भनक आ जाती, इसका मर्म मेरी समझ में कुछ नहीं आता था। समझने की इच्छा प्रबल हो उठती। याद में खबर पाता कि जो सज्जन सिसक रहे थे, वे कुलीन ज़रूर थे; पर महिला नहीं, मेरे बहनोई थे। उन दिनों के समाज में जिस प्रकार पुरुष और स्त्रियाँ दो सीमाओं पर दो ओर पड़े हुए थे, ठीक उसी प्रकार दो सीमाओं पर थे बड़े और छोटे। बैठकखाने के झाड़-फ़ानूस के प्रकाशमें नाच-गान चला करता, बड़ों का दल गड़गड़े का कश लगाता रहता, औरतें हाथ में पनडब्बा लिये झरोखों के उस ओर छिपी रहतीं, बाहर की स्त्रियाँ भी आ जुटतीं और फिसिर-फिसिर करके गृहस्थी की खबरें चलती रहतीं। लड़के उस समय बिछौनों पर होते। पियारी या शंकरी कहानी सुनाती रहती, कान में भनक पड़ती—

"जैसे चाँदनी में फूल खिला हो।"

६

हमारे समय से कुछ पहले धनी घरों में शौक़िया

यात्रा* का चलन था। मीठे गलेवाले लड़कों को चुनकर दल बाँधने की धूम थी। मेरे मझले काका एक ऐसे ही शौकिया यात्रादल के दलपति थे। उनमें संवाद रचने की शक्ति थी और लड़कों को तैयार कर लेने का उत्साह भी था। धनी लोगों के पालतू जैसे ये यात्रादल थे, वैसे ही पेशेवर लोगों के यात्रादल का भी उन दिनों बंगाल पर नशा छाया हुआ था। इस टोले या उस मुहल्ले में नामवर अधिकारियों की देखरेख में यात्रा के दल जम उठते थे। दलपति अधिकारी लोग हमेशा बड़ी जाति के या पढ़े-लिखे आदमी होते हों, सो बात नहीं थी। अपने बूतेपर वे नाम कर लेते थे। हमारे घर पर भी कभी-कभी यात्रा-गान हुआ करता था। पर देखने का कोई उपाय नहीं था, मैं था बालक। शुरू की तैयारी मैं देख सकता था। सारे बरामदे में यात्रावाले भर जाते थे, चारों ओर तंबाकू का धुआँ उड़ने लगता था। (अभिनय करनेवाले) लड़कों के बाल बड़े बड़े होते, उनकी आंखें स्याह पड़ गई होतीं और कची उमर में ही उनके मुँहपर पौढ़ाई उतर आई होती। पान

---

* बंगालमें अत्यधिक प्रचलित एक प्रकार के पौराणिक नाटक, उत्तर-भारत की रामलीला और रासलीला की श्रेणी के।

खाते-खाते उनके दोनों होंठ काले हो गये होते। साज-सज्जा के सामान टीन के बक्सों में भरे होते। ड्योढ़ी का दरवाज़ा खुला होता और उसमें से लोगों की भीड़ पिल पड़ती। चारों ओर से टग-बग टग-बग आवाज़ आती रहती। गली तो गली, उसे पार करके चितपुर का रास्ता तक ढँक जाता। रात जब नौ के क़रीब हो जाती, तो जैसे कबूतरकी पीठपर बाज झपट पड़ता है, वैसे ही श्याम आ धमकता। घट्टे पड़े हुए कठोर हाथ की मुट्ठी में मेरी कुहनी पकड़कर कहता, चलो, माँ बुलाती हैं, सोने चलो। भीड़ के सामने ही इस खींच-तान से मेरा सिर नीचा हो जाता ; हार मानकर सोने के कमरे में चला जाता। बाहर हाँकडाँक चल रही है, झाड़-फ़ानूस जल रहे हैं ; पर मेरे घर में आवाज़ तक नहीं, केवल दीवट के ऊपर पीतल का प्रदीप टिमटिमा रहा है। नाच का ताल जब सम पर पहुँचता, तो साथ ही झमाझम बजते हुए करताल की आवाज़ नींद की खुमारी के बीच-बीच में सुनाई पड़ जाती।

ऐसे अवसरों पर बच्चोंको मना करना ही बड़ोंका धर्म था ; लेकिन एक बार न जाने क्यों उनका मन ज़रा नर्म पड़ गया। हुकुम जारी हुआ कि लड़के भी यात्रा सुन

सकेंगे। उस दिन नल-दमयन्ती की लीला थी। मैं शुरू होने के पहले रात के ग्यारह बजे तक बिछौने पर था। बार-बार यक़ीन दिलाया गया था कि यात्रा शुरू होते ही तुम लोगों को जगा दिया जायगा। ऊपरवालों का कायदा हमें मालूम था। उनके कहने का विश्वास किसी प्रकार नहीं हो रहा था, क्योंकि वे बड़े थे, हम छोटे।

यद्यपि शरीर बिछौने पर जाने को राज़ी नहीं था, तथापि उस रात उसे घसीटकर ले गया। इसका एक कारण तो यह था कि माँ ने कहा था, वे स्वयं मुझे जगा देंगी। और दूसरा यह कि नौ बजे के बाद अपने को जगा रखने के लिए काफ़ी धर-धकेल की ज़रूरत थी। ठीक समय पर मुझे नींद से उठाकर बाहर लाया गया। इकतल्ले की ओर दुतल्ले के रंगीन झाड़-फ़ानूसकी झिलमिलाती हुई रोशनी चारों ओर छितरा रही थी। बिछी हुई सफ़ेद चादरसे आँगन बड़ा दिखाई दे रहा था। एक तरफ़ बड़े मालिक लोग और जिन्हें न्यौतकर बुलाया गया था, वे लोग बैठे थे; और बाक़ी जगह में इधर-उधर से आए हुए लोग अपनी मर्ज़ी के मुताबिक जगहों पर भरे हुए थे। थियेटर में नामी-गरामी लोगों का

दल आया था, जिनके पेट पर सोने की चेन झूल रही थी। और इस यात्रा की महफ़िल में बड़े और छोटे की देह से देह छिल रही थी। उनमें अधिकांश ऐसे ही आदमी थे, जिन्हें बड़े आदमी बेमसरफ़ के लोग कहा करते हैं। इसी तरह संवाद और संगीत ऐसे लेखकों से लिखाया गया था, जिन्होंने किरच या सरकण्डे की कलम से हाथ माँजा था, जिन्होंने अंग्रेज़ी कापी-बुकपर लिखने का महाविरा नहीं किया था। इसका सुर, इसका नाच और इसकी सारी कहानी बंगाल के हाट-बाज़ार और राह-घाट की उपजी हुई थी; इसकी भाषा भी पण्डितजी की पालिश की हुई नहीं थी।

जब मैं सभा में बड़े भाइयों के पास बैठा, तो रूमाल में कुछ रुपये बाँधकर मेरे हाथ में उन्होंने दे दिये। वाहवाही देने के ठीक मौक़े पर रुपया फेंक देने का क़ायदा था। इससे यात्रावालों को ऊपरी आमदनी हो जाती थी और गृहस्थ का सुनाम होता था।

रात ख़त्म होने को आई; पर यात्रा के ख़त्म होने का कोई लक्षण नहीं। बीच में ढुलक पड़े हुए शरीर को गोदी में लेकर कौन कहाँ उठाकर ले गया, पता भी नहीं लग पाया। जान सकने पर यह क्या कम लाज की बात

थी। जो आदमी बड़ों के बराबर बैठकर बख़शिस लुटा रहा हो, भरे आँगन के लोगों के सामने उसीका ऐसा अपमान! आँख जब खुली, तो देखता हूँ कि माँ की खाटपर सोया हुआ हूँ। दिन बहुत चढ़ गया है। धूप झाँय झाँय कर रही है। ऐसा इसके पहले कभी नहीं हुआ था कि सूरज उठ गया हो और मैं न उठा होऊँ।

आजकल शहर की चहल-पहल नदी के स्रोत के समान चलती है। उसके बीच में कहीं भी फाँक नहीं होता। रोज ही जहाँ कहीं और जिस किसी समय सिनेमा चल रहा है, और जिसकी मर्ज़ी हुई, वही थोड़े ख़र्च में घुस पड़ता है। उन दिनों यात्रा-गान सूखी नदी में कोस-दो-कोस पर खोदकर निकाले हुए पानी के समान था। उसकी मीयाद घंटे भर की होती थी। राहगीर अचानक आ पहुँचते और अञ्जुली भरकर पानी पीकर प्यास बुझा लेते।

पुराना ज़माना राजकुँवर के समान था। बीच-बीच में त्यौहार-पर्व के दिन जब उसकी मर्ज़ी होती, अपने इलाक़े में दान-ख़ैरात बाँट देता। आज का ज़माना सौदागर का लड़का है। हर क़िस्म का चमकदार माल

सजाकर सदर रास्ते की चौमुहानी पर बैठा हूँ। बड़े रास्ते से भी ख़रीदार आते हैं, छोटे रास्ते से भी।

६

नौकरों का बड़ा सर्दार ब्रजेश्वर था। जो छोटा सर्दार था, उसका नाम श्याम था। रहनेवाला वह जैसोर का था, ठेठ देहाती। भाषा उसकी कलकतिया नहीं थी। रंग उसका साँवला था। आँखें बड़ी-बड़ी। तेल से चपचपाये हुए लम्बे-लम्बे बाल। मजबूत दोहरा बदन। उसके स्वभाव में कुछ भी कड़ाई नहीं थी, दिलका सीधा था। लड़कों के लिए उसके दिल में दर्द था। उससे हमें डाकुओं की कहानियाँ सुनने को मिलतीं। उन दिनों जैसे भूत की कहानी से आदमी का मन भरा हुआ था, उसी तरह डाकुओं की कहानियाँ घर-घर फैली हुई थीं। डकैती अब भी कम नहीं होती, ख़ून-ख़चर भी होते हैं और लूट-पाट भी। पुलिस भी ठीक-ठीक आदमियों को नहीं पकड़ पाती। परन्तु यह तो महज़ ख़बर हुई, इसमें कहानी का मज़ा नहीं है। उन दिनों डकैती कहानी के रूप में दाना बाँध चुकी थी,

बहुत दिनों से मुँहामुँही फैल गई थी। जिन दिनों हम लोगों का जन्म हुआ था, उन दिनों भी ऐसे आदमी दिखाई देते, जो जब हट्टे-कट्टे थे, तो डाकुओं के दल में थे। बड़े-बड़े लठैत थे, जिनके पीछे लाठी खेलनेवाले शागिर्द चला करते थे। उनकी ऐसी धाक जमी हुई थी कि नाम सुनते ही लोग झुककर सलाम कर लेते थे। अक्सर उन दिनों की डकैती गँवारों की तरह महज़ खून-खराबी का कारबार नहीं थी। उसमें जितनी ही दिलेरी ज़रूरी थी, उतनी ही दरियादिली भी। इधर भले आदमियों के घर भी लाठी से लाठी का मुक़ाबला करने के लिये अखाड़े खुल गये थे। जिन्होंने नामवरी हासिल की थी, उन्हें डाकू भी उस्ताद मानते थे और उनकी छाँह बचाकर चला करते थे। कई जमींदारों का व्यवसाय ही डाका डालना था। कहानी सुनी है, इसी श्रेणी के एक जमींदार ने नदी के मुहाने पर अपना दल तैनात कर रखा था। उस दिन अमावस्या थी, कालीपूजा (दिवाली) की रात। जब वे लोग काली-कंकाली के नाम पर किसीका मुण्ड काटकर मन्दिर में ले गये, तो जमींदार ने माथा ठोंककर कहा कि यह तो मेरा ही दामाद है।

और फिर रघु और शिशु नामक डाकुओं की कहानी सुनी जाती थी। ये पहले से ख़बर देकर डकैती किया करते थे, कभी कमीनेपन से काम नहीं लेते थे। दूर से उनकी आवाज़ सुनकर मुहल्ले के लोगों का ख़ून बर्फ़ हो जाता था। औरतों पर हाथ उठाना उनके धर्म में मना था। एक बार एक स्त्री ने फर्सा लेकर काली का रूप धारण कर लिया था और उन्हें डाकुओं से ही प्रणामी वसूल कर ली थी।

हमारे घर पर एक दिन डकैती का खेल दिखाया गया था। लम्बे-लम्बे काले जवान, बड़े-बड़े उनके बाल। ओखल में चादर बाँधकर उन्होंने दाँत से पकड़ा और उसे पीठ की ओर उलाट दिया। झबरैले बालों में आदमी को बाँधकर उसे देर तक घुमाते रहे। लम्बी-लम्बी लाठियों पर पैर रखकर दुतल्ले पर चढ़ गये। एक तो दोनों हाथों के बीच से चिड़िया की तरह सटाक-से निकल गया। इन लोगों ने यह भी दिखाया कि दस-बीस कोस की दूरी पर से डकैती करके उसी रात को लौटकर अपने घर में भले आदमी की तरह कैसे सोया जा सकता है। खूब बड़ी दो लाठियाँ थीं, जिन के बीच में पैर रखने के लिए एक-एक काठ के टुकड़े

आड़े वँधे हुए थे। इस लाठी को 'रड़्पा' कहते थे। लाठियों के अगले सिरों को हाथ से पकड़कर काठ के टुकड़ेवाले पायदानपर पैर रखकर चलने से एक-एक पग दस-दस पग के वरावर पड़ते और घोड़े से कहीं अधिक तेज़ दौड़ होती। यद्यपि मेरा मतलब कभी डाका डालने का नहीं था, तथापि शान्तिनिकेतन के लड़कों को एक वार इस 'रड़्पा' पर दौड़ने का अभ्यास कराने का प्रयत्न मैंने किया था। डकैती के खेल के इस दृश्यके साथ श्याम के मुँह की सुनी हुई कहानी को मिलाकर न जाने कितनी वार दोनों हाथों से पाँजर दवाकर मैंने संध्या का समय काटा है।

उस दिन एतवार की छुट्टी थी। इसके पहले दिन की संध्या को वाहर के दक्खिनी वगीचे की झाड़ी में झींगुर झनकार रहा था, और इधर रघु डाकू की कहानी चल रही थी। काँपती छायावाले उस घर की टिमटिमाती रोशनी में मेरा हृदय धक्-धक् करके धड़क रहा था। दूसरे दिन छुट्टी का मौक़ा पाकर मैं पालकी में जा वैठा। वह चलने लगी—विना चाल के ही, अनिश्चित मुकाम की ओर, कहानी के जाल से जकड़े हुए मन को ख़तरे का स्वाद चखाने के लिए। घनघोर अंधकार की नाड़ी में

मानों कहारों की हाँइ-हुँइ हाँइ-हुँइ की आवाज़ ताल के साथ बजने लगी। शरीर झनझना उठा। मैदान धाँय-धाँय जल रहा था। धूप से हवा काँप रही थी। दूर काली पोखर का पानी झिलमिला रहा था। चमकीली रेत चमाचम् चमक रही थी। किनारे के दरार-फटे घाट के ऊपर डाल-टहनी छितराये हुए पाकड़ का पेड़ नदी पर झुक पड़ा था।

कहानी का आतंक थनजाने मैदान के पेड़ के नीचे, घने बेंत की झाड़ी में जमा हो गया है। जितना ही आगे बढ़ता हूँ, उतनी ही छाती धड़कती जाती है। झाड़ के ऊपर से दो-एक बाँस की लाठियों का अगला हिस्सा दिख रहा है। वहाँ जाकर कहार कंधा बदलेंगे, पानी पियेंगे और गमछा भिगोकर सिर पर बाँध लेंगे। और फिर?

हर हर हर हर हर हर!

७

सवेरे से लेकर रात तक पढ़ाई की चक्की चलती ही रहती। इसका कल पेंठने का काम सँभले दादा

हेमेन्द्रनाथ के जिम्मे था। वे बड़े कड़े हाकिम थे। तम्बूरे का तार अधिक ज़ोर से खींचने पर तड़तड़ा कर टूट जाता है। उन्होंने हमारे मन पर जितना ज्यादा माल लादना चाहा था, उसमें से अधिकांश की डोंगी उलट गई है, और वे न जाने किस तल में डूब गये हैं। इस बात को अब अधिक छिपा रखना बेकार है। मेरी विद्या घाटे का माल है। सँझले दादा अपनी बड़ी लड़की को शिक्षित बनाने के लिये लग पड़े थे, यथासमय उसे लोरेटो में भर्ती करा दिया था। इसके पहले ही बंगला भाषा पर उसका अधिकार हो गया था।

प्रतिभा को उन्होंने विलायती संगीत में निपुण बना लिया लेकिन ऐसा करने से देशी गान का रास्ता बंद नहीं हो गया था, यह हमें मालूम है। उन दिनों के भद्र परिवार में शास्त्रीय गान में उसके समान कोई नहीं था।

विलायती संगीत का गुण यह है कि उससे सुर की सधाई बहुत ठीक ठीक होती है, कान दुरुस्त हो जाते हैं और पियानो के शासन से ताल में भी ढिलाई नहीं रहने पाती। इधर विष्णु के पास बचपन से ही देशी गान शुरू हो गया था। गान की इस पाठशाला में मुझे

और भी कुछ टूटी फूटी पंक्तियां याद आती हैं जैसे,

*चन्द्र सूर्य हार मेनेछे; जोनाक ज्वाले वाति
मोगल पाठान हद्द होलो
फार्सि पड़े ताँति।

†गणेशेर माँ, कलावौ के ज्वाला दियो ना,
तार एकटि मोचा फलले परे
कत हवे छाना पोना।

ऐसी भी पंक्तियां है जिनसे भूले हुए अत्यन्त प्राचीन समय की झांकी मिल जाती है। जैसे,

‡एक ये छिल कुकुर चाटा
शेयाल कांटार वन
फेटे करले सिंहासन।

---

* चांद और सूर्य ने हार मान ली है, (अब) जुगुनू बत्ती जला रहा है! मुगल पठान थक गये (अब) तांती फारसी पढ़ रहा है!

† गणेश की माँ, केला बहू को कष्ट मत देना। उसका एक एक फूल अगर फल धरेगा तो कितने ही कच्चे-बच्चे होंगे।

‡ एक कुकुरचट्टा था (उसने) सिहार काँटे (एक तरहका जंगली काँटा) को काटकर सिंहासन बनाया।

आज का नियम यह है कि पहले हारमोनियम पर सा रे गा मा सुर सधा लिया जाता है फिर कोई हल्का-सा हिंदी गान पकड़ा दिया जाता है। किन्तु उन दिनों जो लोग हमारी पढ़ाई-लिखाई की देख देख करते थे उन्होंने समझ लिया था कि लड़कपन लड़कों की अपनी चीज़ है और बंगला भाषा बंगाली लड़कों के मन में हिंदी भाषा की अपेक्षा सहज ही जगह बना लेती है। इसके सिवा इस छन्द का देशी ताल बायें तबले के बोल की ज़रूरत नहीं महसूस करता। यह अपने आप नाड़ी में नाचता रहता है। माँ के मुँह से निकली हुई लोरियों से बच्चे वह पहला साहित्य सीखते हैं जो उनके चित्त को मोहे रहता है। इन्हीं लोरियों से बच्चों का मन मोहनेवाला गाना भी शुरू किया जाय, इस बात की हमारे ऊपर से ही परख की गई थी।

तब तक इस देश में गान की जात मारने के लिये हारमोनियम नहीं आया था। हमने कंधे पर तम्बूरा रख कर गान का अभ्यास किया था, कल-दबाऊ सुर की गुलामी नहीं की थी।

मेरा दोष यह है कि सिखाने के रास्ते में मुझे कोई

अधिक दिन तक किसी प्रकार चला नहीं सका। अपनी इच्छा के अनुसार जोड़-बटोरकर जो कुछ पाया है उसीसे मैंने अपनी झोली भर ली है। मन लगाकर सीखना यदि मेरे स्वभाव में होता तो आजकल के उस्ताद लोग मेरी अवहेला न कर सकते, क्योंकि सुयोग मुझे काफ़ी मिला था। जितने दिनों तक हमारी शिक्षा देने के मालिक सँझले दादा थे उतने दिनों तक मैं अनमना-सा विष्णु के पास बैठकर ब्राह्म संगीत गुनगुनाया करता था। कभी कभी जब मन अपने आप लग जाता तो दरवाजे के पास खड़ा होकर गान सीख लेता। सँझले दादा विहाग गा रहे हैं 'अति गज गामिनी रे' और मैं छिपकर मन में उसकी छाप उतार रहा हूं। शाम को माँ के पास वही गान गाकर उन्हें चकित कर देना बहुत सहज काम था। हमारे परिवार के मित्र श्रीकंठ बाबू दिनरात गान में मगन रहा करते। बरामदे में बैठे बैठे चमेली का तेल मालिश करके स्नान करते थे। उनके हाथ में गड़गड़ा होता और अम्बूरी तंबाकू की महक आस्मान में फैलती होती, गुनगुन गान चलता रहता, और वे लड़कों को अपने चारों ओर खींच रखते। वे गान सिखाते नहीं थे, देते थे, और कब मैं उठा लेता,

मालूम भी नहीं होता। जब वे अपना उत्साह दबा न पाते तो उठकर खड़े हो जाते, नाच नाच के सितार बजाने लगते, हंसी से उनकी बड़ी बड़ी आंखें चमक उठतीं और गान शुरू करते—

मैं छोड़ों ब्रज की बाँसरी

और साथ ही मुझे भी गवाये बिना न छोड़ते।

उन दिनों आतिथ्य का दरवाज़ा खुला हुआ था। जान-पहचान की खोज-खबर लेने की विशेष ज़रूरत नहीं थी। जो जब आ जाता उसे सोने की जगह भी मिल जाती और बाक़ायदा अन्न की थाली भी पहुँच जाती। इसी तरह के एक अनजाने अतिथि एक दिन लिहाफ में ढके हुए तम्बूरे को काँख में दबाये हुए आ पहुँचे। और अपनी गठरी खोलकर बैठकवाले घर के एक कोने में पैर फैलाकर पड रहे। हुक्काबरदार कन्हाई ने बाक़ायदा उनके हाथ में हुक्का भी दे दिया। उन दिनों अतिथि के लिये जैसे यह तंबाकू चलती थी वैसे ही पान भी चला करता था। उस ज़माने में घर के भीतर की औरतों का सवेरे का काम यही था। बाहर की बैठक में जो लोग आते उनके लिये ढेर के ढेर पान लगाने पडते। चटपट पान में चूना लगाकर लकडी

से खैर पोता जाता, फिर ढंग से मसाला भर के बीड़ों में लौंग खोसकर पीतल के पानदान में भरा जाता, फिर उन्हें खैर के दाग़ लगे हुए गीले कपड़े से ढक दिया जाता। उधर बाहर सीढ़ी के नीचेवाले घर में तंबाकू साजने की धूम मची होती। मिट्टी के गमलों में राख से ढकी हुई कोयले की आग, नागलोक के नागों के समान झूलते हुए गड़गड़े के नल और उनकी नाड़ी में गुलाब-जल की सुगंध। घर में जो लोग आते वे सीढ़ी से ऊपर चढ़ते समय इस अंबूरी तम्बाकू की खुशबू में ही गृहस्थ की 'पधारिये' की पुकार अनुभव करते। उन दिनों मनुष्य को स्वीकार कर लेने का यह बँधा हुआ नियम था। बहुत दिन हुए वह पान का भरा हुआ कठौता खिसक पड़ा है। और उन हुक्काबरदारों की जात ने अपनी सज्जा खोल कर फेंक दी है और हलवाइयों की दुकान पर तीन दिन के बासी संदेश को रगड़ने और मींजने के काम में जुट गये है।

वह अज्ञात गायक अपनी मर्जी के मुताबिक कुछ दिन रह गये। किसीने कुछ पूछा भी नहीं। प्रात काल में उनको उनकी मच्छरदानी से खींचकर बाहर निकालता और उनका गान सुनता। जिनके स्वभाव में नियम

से सीखना नहीं है उनका शौक बेकायदे सीखने का होता है। सवेरे के सुर में गान शुरू होता—"बंशी हमारी रे।"

इसके बाद जब मेरी उमर कुछ बड़ी हुई तो घर में एक बड़े उस्ताद यदु भट्ट आ बैठे। उन्होंने एक भारी गलती की, जिद पकड़ी कि मुझे गान सिखाकर ही छोड़ेंगे। इसलिये मेरा गाना सीखना हुआ ही नहीं। चोरी चोरी कुछ संग्रह कर लिया था—अच्छा लगा था काफी सुर में 'रुमझुम बरसे आजु बदरवा।' यह आज तक मेरे वर्षा के गानों के साथ दल बाँधकर रह गया है। दिक़्क़त यह हुई कि उसी समय एक और अतिथि बिना कुछ कहे सुने आ उपस्थित हुए। बाघ मारने की उनकी शुहरत थी। बंगाली भी बाघ मार सकता है, यह बात उन दिनों कुछ अजीब-सी सुनाई देती थी, इसीलिये ज्यादातर मैं उन्हींके घर अँटक रहा। उन्होंने जिस बाघ के जबड़े में पड़ने की कहानी सुनाकर हमारी छाती में धड़कन पैदा कर दी थी, असल में उस बाघ ने उन्हें जख़म नहीं किया था। असल बात यह थी कि अजायब-घर में बाघ के जबड़े को देखकर उन्होंने अन्दाजे पर कहानी गढ़ ली थी। उन दिनों यह बात मैं सोच नहीं

सका था पर आज साफ समझ में आ रही है। तो भी उन दिनों उस वीरपुरुष के लिये बारंबार पान-तंबाकू की व्यवस्था करनी ही पड़ी थी। दूर से कानों में कान्हड़ा का आलाप पहुँचता।

यह तो हुआ गान। सँझले दादा के हाथ हमारी दूसरी विद्या की जो नींव पड़ी थी वह भी खूब धूमधाम के साथ। विशेष कुछ फल जो नहीं हुआ सो स्वभाव के दोष से। हमारे जैसे को सामने रखकर ही राम प्रसाद सेन ने गाया था—'मन, तू ना जाने कृषि-कर्म' (मन, तुमि कृषिकाज बोझो ना)। फसल आबाद करने का काम कभी भी मुझ से नहीं हुआ।

इस खेती की हराई किन किन खेतों में लगी थी उसकी भी खबर दे रहा हूं।

अंधकार रहते ही बिछौने से उठता, कुश्ती की तैयारी करता, ठंड के दिन में शरीर कांपता रहता और रोंगटे खड़े हो जाते। शहर में एक नामवर पहलवान था—काना पहलवान, वही हमें कुश्ती सिखाया करता। दालान-घर के उत्तर की ओर एक खाली जमीन पड़ी हुई थी उसे गोलाबाड़ी कहते थे। नाम से जान पड़ता है कि एक ऐसा भी दिन था जब शहर ने देहात को एकदम दबोच

नहीं दिया था, कुछ-कुछ खाली जमीन भी पड़ी रहती थी। शहरी सभ्यता के आरंभ में हमारी गोलाबाड़ी में साल भर के लिये धान जमा कर रखा जाता। 'खास-ज़मीन' की रैयत अपने धान का हिस्सा दिया करती थी। इसी चहारदीवारी से सटा हुआ था कुश्तीवाला झोंपड़ा। करीब एक हाथ गहरी मिट्टी खोदकर उसमें से ईंटा दी गई थी और फिर एक मन सरसों का तेल डालकर अखाड़े की जमीन तैयार की गई थी। यहां पहलवान के साथ पेंच कसना मेरे लिये बच्चों का एक खेल ही भर था। थोड़ी देर तक शरीर में खूब मिट्टी मल-मलाकर अन्त में एक कुर्ता पहनकर चला आता। सवेरे सवेरे रोज़ इतनी मिट्टी रगड़ना माँ को अच्छा नहीं लगता। उन्हें डर था कि लड़के का रंग कहीं मटमैला न हो जाय। इसका नतीजा यह हुआ कि छुट्टी के दिन वे शोधन कार्य में जुट जातीं। आजकल की शौकीन गृहिणियाँ डिब्बों में भरा हुआ रंग साफ करने का सामान विलायती दूकानों से खरीद लाती हैं पर उन दिनों की गृहिणियाँ खुद अपने हाथों सफाई का मलहम तैयार करती थीं। उसमें पिसा हुआ बादाम, मलाई, सन्तरे का छिल्का और और भी जाने क्या क्या हुआ करते थे। यदि मैं

बनाना जानता और नुस्खा याद होता तो 'बेगम-विलास' नाम देकर रोज़गार शुरू करने पर संदेश की दूकान से कम आमदनी न होती।

एतवार के दिन सबेरे बरामदे में बिठाकर मलने मीजने की क्रिया चल पड़ती और मेरा मन छुट्टी पाने के लिये उकता जाता। इधर स्कूल के लड़कों में एक अफवाह फैली हुई थी कि जनमते ही हमारे घर के लड़कों को शराब मे डुबो दिया जाता है, इसीलिये हम लोगों के शरीर के रंग में साहेबी उजास आ जाती है।

कुश्ती के अखाड़े से लौटकर देखता कि मेडिकल कालेज के एक विद्यार्थी आदमी की हड्डी पहचानने की विद्या सिखाने के लिये बैठे हैं। दीवाल पर एक समूचा कंकाल झूला करता। रात को हमारे सोने के कमरे की दीवाल पर भी यह लटकता रहता और हवा का झोंका लगते ही उसकी हड्डियां खड़खड़ा उठतीं। उनको उलटते-पुलटते हड्डियों के मुश्किल मुश्किल नाम मालूम हो गये थे। इसीलिये हमारा भय जाता रहा था।

ड्योढ़ी पर सात बज गये।' नीलकमल मास्टर की घड़ी का ठीक किया हुआ समय एकदम ठोस था। एक मिनट भी इधर उधर होने का उपाय नहीं था। शरीर

सो दुबला पतला और छरहरा था पर स्वास्थ्य विद्यार्थी के (मेरे) ही समान था। एक दिन के लिये भी उनके सिर में दर्द होने का सुअवसर नहीं मिला। मैं किताब और स्लेट लेकर मेज़ के सामने जाता। तख्तासियाह पर खड़िया मिट्टी के दाग़ पड़ा करते, सब कुछ बंगला में ही, पाटीगणित, बीजगणित, रेखागणित। साहित्य में 'सीतार बनवास' से सीधे 'मेघनादवध' में चढ़ा दिया गया था। इसके साथ ही साथ प्राकृत विज्ञान भी चला करता। बीच बीच में सीतानाथ दत्त आया करते। उनकी बताई हुई बातों की जांच-पड़ताल के ज़रिये विज्ञान की उड़ती हुई ख़बरें मिला करतीं। बीच में एक बार हेरम्ब तत्त्वरत्न आये। बिना कुछ समझे बूझे ही मैं 'मुग्धबोध' घोख डालने के काम में जुट गया। इसी प्रकार सारे प्रातःकाल नानाभाँति की पढ़ाई का जितना ही दबाव पड़ता, भीतर ही भीतर मन उतनी ही मुस्तैदी से चोरी-चोरी कुछकुछ बोझा फेंकता रहता। जाल में सूराख़ बनाकर घोखी हुई विद्या खिसक जाना चाहती और नीलकमल मास्टर अपने इस विद्यार्थी की बुद्धि के संबंध में जो मत प्रकट करते रहते वे ऐसे नहीं होते थे जो पांच भलेमानसों को बुलाकर सुनाये जा सकें।

बरामदे के एक ओर सिरे पर एक बूढ़ा दर्ज़ी झुका हुआ कपड़ा सिया करता था, उसकी आंखों पर आतशी शीशे का चश्मा लगा होता था। वह बीच बीच में वक्त पर नमाज़ पढ़ लेता। मैं उसकी ओर देखता और सोचता, नियामत (दर्ज़ी) कितने मजे में है। सवाल हल करते करते जब सिर चकरा जाता तो आँख पर स्लेट रखकर ओट से नीचे की ओर देखता कि ड्योढ़ी पर बैठा हुआ चन्द्रभान अपनी लंबी दाढ़ी को काठ की कंघी से झाड़ रहा है और दो हिस्सों में बांटकर दोनों कानों पर चढ़ा रहा है। पास ही कंगन-पहने छरहरे बदन का छोकरा दरबान बैठा बैठा तंबाकू कूट रहा है। वहीं पर घोड़ा खूब तड़के ही बालटी में डाला हुआ अपने हिस्से का दाना चट कर गया है, इधर उधर छिटक पड़े हुए चने के दानों को कौए कुद-कुदकर चुन रहे हैं और, जानी कुत्ता कर्तव्य समझकर जाग उठा है और भौंक-भौंककर उन्हें भगा रहा है।

बरामदे के एक कोने में झाड़ू देकर जमा की हुई धूल में मैंने शरीफ़े का बीज बो रखा था। कब उसमें से मुलायम पत्ते निकलेंगे यह देखने के लिये मन छटपटाता रहता था। ज्योंही नीलकमल मास्टर उठ-

कर जाते त्योंही उसे एक बार देख लेना ज़रूरी था और पानी भी देना लाज़िमी था। अन्त तक मेरी साध पूरी नहीं हुई। जिस झाड़ू ने धूल जमायी थी उसीने एक दिन उसे उड़ा भी दिया।

सूरज ऊपर उठ जाता है, छाया आधे आंगन तक लटक आती है। नौ बज जाते हैं, ठिगना काला गोविंद कंधे पर पीले रंग का मैला गमछा लटकाये मुझे स्नान कराने को ले चलता है। साढ़े नौ बजते ही हर रोज़ का प्राप्य दाल-भात और मछली के शोरबे का नियमित भोज : खाने को जी न करता।

दस का घंटा बजता है, बड़ी सड़क पर से कच्चे आम बेचनेवाले की उदास कर देनेवाली आवाज़ सुनाई देती है। बर्तनवाला ठन ठन आवाज़ करता हुआ दूर से और भी दूर चला जा रहा है, गली के उस किनारे के मकान की बड़ी बहू भीगे केशों को धूप में सुखा रही है और उसकी दो लड़कियाँ कौड़ी लेकर जो खेल रही हैं सो खेल ही रही हैं, कोई हड़बड़ी नहीं है। उन दिनों लड़कियों को स्कूल जाने की बला नहीं थी। जान पड़ता, लड़की का जन्म महज़ सुख के लिये ही है। बूढ़ा घोड़ा बग्घी में मुझे खींचकर दस से चार बजे तक के अन्दमन में

ले चला है। साढ़े चार बजे स्कूल से लौट आता हूं। जिमनास्टिक के मास्टर आये हुए हैं। काठ के डंडे पर घंटे भर तक शरीर को उलटता-पुलटता हूं। वह गये नहीं कि चित्रकारी सिखानेवाले मास्टर साहब हाज़िर है।

धीरे धीरे मुर्चा लगे हुए दिन का उजाला मंदा पड़ जाता है। शहर की पंचमेल धुँधली आवाज़ से ईंट काठ के दैत्य (शहर) की देह में स्वप्न का राग बज उठता है।

पढ़ने के घर में तेल की बत्ती जल उठती है। अघोर मास्टर हाज़िर है। अंग्रेज़ी की पढ़ाई शुरू हुई। काले काले पुट्ठों की रीडर मानों झपट्टा मारने के लिये मेज़ पर घात लगाये बैठी है। पुट्ठे ढीलमढालम हैं, पत्ते फट गये हैं, कुछ पर दाग़ पड़े हुए हैं, ग़लत जगह पर अंग्रेज़ी में नाम लिखकर हाथ साफ़ किया गया है, उसमें सबके सब कैपिटल (अंग्रेज़ी के बड़े) अक्षर हैं। पढ़ते-पढ़ते लुढ़क पड़ता हूं, लुढ़कते-लुढ़कते चौंक उठता हूं। जितना पढ़ता हूं, उससे कहीं ज्यादा नहीं पढ़ता हूं। इतनी देर बाद बिछौने में घुसकर ज़रा छूट का अवसर पाता हूं। वहां सुनते-सुनते यही नहीं खतम होने पाता

कि राजकुँवर सात समुद्र टप्पू पार के मैदान में चला है।

८

उस ज़माने से इस ज़माने में बहुत फ़र्क़ पड़ गया है, यह बात तब साफ़ साफ़ समझता हूँ जब देखता हूँ कि आजकल मकान की छतों पर न तो आदमियों का ही चलना-फिरना होता है, न भूत-प्रेतों का ही। पहले ही बता आया हूँ कि कड़ी पढ़ाई-लिखाई की आबहवा में टिक न सकने के कारण ब्रह्मदैत्य भाग खड़ा हुआ है। जब से यह अफ़वाह दूर हो गई है कि वह छत की कार्निस पर आराम के साथ पैर रखकर खड़ा रहता है तब से वहाँ जूठे आमकी गुठली लेकर कौओं की छीनाझपटी चला करती है। इधर मनुष्य की बस्ती निचले तल्ले की दीवालों के चौकोने पैकबाक्स में नज़रबंद हो गई है।

मकान के भीतरवाली चहारदीवारी-घिरी छत याद

आती है। संझा समय माँ चटाई बिछाकर बैठी हुई हैं, उनकी संगिनियां उन्हें चारों ओर से घेरकर बातें कर रही है। इस बात-चीत के सिलसिले में विशुद्ध समाचार की कोई ज़रूरत नहीं हुआ करती थी। सिर्फ समय काटने से मतलब हुआ करता था। उन दिनों दिन के समय को भर देने के लिए नाना दाम के नाना भांति के माल-मसालों की आवग नहीं हुआ करती थी। दिन ठोस बुनाई किया हुआ नहीं था, बल्कि बड़े बड़े सूराख़ वाले जाल की भाँति था। चाहे पुरुषों की मजलिस हो या स्त्रियों की बैठक, बात-चीत हंसी-मजाक सब हल्के दामों के हुआ करते थे। मां की सबसे प्रधान संगिनियों में थी व्रज आचार्जि की बहन जिन्हें 'आचार्जिनी' कहकर पुकारा जाता था। वे ही इस बैठक में दैनिक ख़बर सप्लाई किया करती थीं। प्रायः ही दुनिया भर की अजीब ख़बरें इकट्ठी करके या बना कर ले आती। इन ख़बरों के आधार पर ग्रहों की शान्ति और स्वस्त्ययन का हिसाब खूब भारी भरकम खर्च से होता। इस सभा में मैं भी बीच-बीच में ताज़ी ताज़ी किताबी विद्या की आमद किया करता। सुनाता कि सूर्य पृथ्वी से नौ करोड़ मील की दूरी पर है।

'ऋजुपाठ'* द्वितीय भाग से अनुस्वार-विसर्ग समेत स्वयं वाल्मीकि रामायण के श्लोक सुना देता। माँ को मालूम नहीं था कि उनके पुत्र का उच्चारण कितना शुद्ध है तथापि उसकी विद्या सूर्य के नौ करोड़ मील के रास्ते को पार करके उन्हें अचरज में डाल देती थी। भला ये सारे श्लोक स्वयं नारद मुनि के सिवा और किसके मुंह से सुनाई दे सकते थे।

घर के भीतर का यह छत पूरा का पूरा स्त्रियों के दखल में था। भाण्डार के साथ उसका समझौता था। यहां धूप पूरी पड़ती और जारक नीबू को भी जला देती। यहाँ स्त्रियां पीतल के कठरों में उड़द का पिसान लेकर बैठतीं और केश सुखाते-सुखाते टपाटप बड़ियाँ खोंटा करतीं; दासियाँ उतारे हुए कपड़े कचारकर धूप में पसार जातीं। उन दिनों धोबी का काम बहुत हल्का था। कच्चे आम की फलियाँ काटकर अमचुर सुखाया जाता, छोटे बड़े माप के बहुतेरे काले पत्थर के साँचों में थक्के का थक्का आम का रस जमाकर अमावट बनाया जाता, धूप खाये हुए सरसों के तेल में कटहल का अँचार पका

* ईश्वरचंद्र विद्यासागर लिखित संस्कृत की प्रारंभिक पाठ्य पुस्तक।

करता। केवड़े का खैर सावधानी से तैयार किया जाता। इस बात को जो मैं अधिक याद रख सका हूं सो उसका कारण है। जब स्कूल के पंडितजी ने बता दिया कि मेरे घर के केवड़े के खैर का सुनाम उनका सुना हुआ है तो इसका मतलब भी समझने में मुझे कठिनाई नहीं हुई। जो कुछ उनका सुना हुआ है वह उन्हें जानना भी चाहिये। इसीलिये घर का नेकनाम बनाये रखने के लिये बीच-बीच में छिपकर चुपके से छत पर चढ़ जाता और एकाध केवड़ों में से—क्या बताऊं! चोरी किया करता कहने से अच्छा है कि यह कहूं कि हथिया लेता। क्योंकि राजे महाराजे भी ज़रूरत पड़ने पर, यहां तक कि ज़रूरत न पड़ने पर भी, औरों की चीज़ें हथिया लेते हैं और जो लोग चोरी किया करते है उन्हें जेल भेजते है या सूली चढ़ाया करते है। जाड़ों की कच्ची धूप में छत पर बैठ कर बात करती हुई स्त्रियों को कौआ भगाने की और समय काटने की भी एक जवाबदेही थी। घर में मैं एकमात्र देवर था। भाभी के अमावट का पहरा और इसके सिवा और दस-पांच फुटकर कामों का साथी अकेला मैं ही था। पढ़कर उन्हें 'बंगाधिप-पराजय' सुनाया करता। कभी कभी मेरे

ऊपर सरौते से सुपारी काटने का भार भी आ पड़ता। मैं खूब पतली सुपारी काट सकता था। यह ठकुरानी (भाभी) बिल्कुल ही नहीं मानती थीं कि मेरे अन्दर और कोई गुण है, यहां तक कि चेहरे में भी दोष निकालकर विधाता पर क्रोध करा देती थीं। किन्तु मेरा सुपारी काटनेवाला गुण बढ़ा-चढ़ाकर कहने में उन्हें कोई हिचक नहीं थी। नतीजा यह होता कि सुपारी काटने का काम बड़े ज़ोर शोर से चला करता। उसका देनेवाले के अभाव में महीन सुपारी काटने वाला हाथ और भी महीन कामों में लग गया है।

छत पर फैले हुए इन घरेलू कामों में देहात का एक स्वाद था। ये काम उस समय के हैं जब कि घर में ढेंकी थी, जब कि नारियल की गिरियाँ कुतरी जाती थीं, जब कि दासियाँ शाम को बैठकर जंघे पर बातियाँ पुरा करतीं, जब कि पड़ोसी के घर से अठकौर* के मनाने का निर्मंत्रण आया करता। आजकल के लड़के स्त्रियों के मुंह से कहानियाँ नहीं सुनते, छपी हुई पोथियों

---

* अठकौर या आटकौड़े—शिशुजन्म के अष्टम दिन को मनाया जानेवाला उत्सव-विशेष।

में खुद पढ़ लिया करते हैं। आचार चटनी आजकल चौक के बाजार से खरीद लाने पड़ते हैं जो बोतल में भरे होते हैं और चपड़ा लगाकर ठेपियों से बंद किये हुए होते हैं।

देहात की एक और छाप चंडीमंडप में थी। वहां गुरुजी की पाठशाला लगा करती। केवल घर के ही नहीं आस-पास के पड़ोसियों के लडकों की विद्या की पहली खुरचन वहीं ताड़ के पत्तों पर पड़ती। मैंने भी निश्चय ही यही पर स्वरे अ स्वरे आ के ऊपर हाथ चलाकर लिखने पढ़ने का अभ्यास शुरू किया था किन्तु सौर-जगत् के सबसे दूरवाले ग्रह के समान उस शिशु को मन में ले आने वाले किसी भी दूरबीन से उसे देखना अब संभव नहीं है।

इसके बाद पुस्तक पढ़ने की सबसे पहली बात जो याद आती है वह है पण्डामार्क मुनि की पाठशाला के विषम व्यापार को लेकर। नृसिंह अवतार ने हिरण्य-कशिपु का पेट फाड़ डाला है, शायद सीसे के फलक पर खुदा हुआ उसका एक चित्र भी उसी पुस्तक में देखा था। और फिर याद आते हैं चाणक्य के कुछ श्लोक।

मेरे जीवन में बाहर की खुली छत प्रधान छुट्टी का देश था। छोटी से बड़ी उमर तक के मेरे नाना प्रकार के दिन उसी छत पर नाना भाव से कटे हैं। मेरे पिताजी जब घर पर होते तो तितल्ले के एक कमरे में रहा करते। चिलकोठे की आड़ में खड़ा होकर दूर से कितनी ही बार मैं ने उन्हें देखा है। तब भी सूर्य उगा न होता, वे सफेद पत्थर की मूर्ति के समान चुपचाप बैठे होते और गोद में दोनों हाथ जुड़े होते थे। बीच-बीच में वे बहुत दिनों के लिये पहाड़ पर्वतों पर चले जाते थे, तब उस छत पर जाना मेरे लिये सात समुंदर पार जाने के आनंद के समान था। हमेशा के निचले तल्ले के बरामदे में बैठा बैठा रेलिंग की फांकों में से अब तक रास्ते का आवागमन देखता आया हूं; लेकिन उस छत पर पहुंचना मानों बस्ती के सीवानी पत्थर को बहुत दूर छोड़ जाने के समान था। वहां जाने पर कलकत्ते के सिर पर पैर रख रखकर मन वहां चला जाता है जहां आकाश का अन्तिम नीला रंग धरती की अन्तिम हरियाली में मिल गया है। तरह तरह के मकानों की तरह तरह की बनी हुई ऊंची नीची छतें आंखों से टकराती रहती हैं और बीच बीच में वृक्षों के झुटीले सिर दिख जाया करते

हैं। मैं अक्सर छिपकर दुपहरी को इस छत पर चढ़ आता था। दुपहरी सदा मेरे मन को भुलाये रही है। यह मानों दिन में की रात है, बालक संन्यासी के वैरागी हो जाने का समय है। खड़खड़ी के भीतर से हाथ डालकर घर की सिटकिनी खोल देता। दरवाज़े के ठीक सामने एक सोफ़ा था; वहीं अत्यन्त अकेला होकर बैठता। मुझे गिरफ़तार करनेवाले जो चौकीदार थे वे उस समय पेट भर खाके ऊंघते होते और अंगड़ाई लेते लेते चटाई पर लुढ़क गये होते थे। धूप रंगीन हो आती, चील आसमान में आवाज़ देकर निकल जाती। सामने की गली से चूड़ीवाला आवाज़ दे जाता। दुपहरी का वह सन्नाटा अब नहीं है और न सन्नाटे का वह फेरीवाला ही अब मौजूद है।

अचानक उनकी आवाज़ वहां पहुंचती जहां घर की बहू तकिये पर बिखरे केश फैलाए लेटी होती, लौंडी उसे भीतर बुला ले आती और बूढ़ा चूड़ीवाला नन्हे-नन्हे कोमल हाथों में धीरे-धीरे दबा-दबाकर पसंद की बिल्लौरी चूड़ी पहना जाता। उस दिन की वह बहू आज-के ज़माने में अभी तक बहू का पद नहीं पा सकी, वह आज-कल कहीं नाइन्थ क्लास में सबक़ याद कर रही है। और

वह चूड़ीवाला शायद उस गली में ही रिक्शा खींचता हुआ चक्कर मार रहा है। यह छत मेरे लिये किताब में पढ़ा हुआ रेगिस्तान था। चारों ओर धांय धांय जल रहा है, गर्म हवा सनसनाती हुई धूल उड़ाती निकल जाती है, आसमान का नीला रंग फीका हो जाता है।

इस छत के रेगिस्तान में एक ओएसिस भी दिखाई दिया था। आजकल ऊपर के तल्ले में कल के पानी की पहुंच नहीं है। पर उन दिनों इसकी पहुँच तितल्लेके घर में भी थी। नहानेवाला घर है, जहां छिपकर घुस पड़ा हूं। इसे मानों बंगाल के शिशु लिविंगस्टन ने अभी अभी खोज निकाला है। कल खोल देता और जलकी धारा सारे शरीर पर गिरने लगती। बिस्तरे की एक चादर लेकर शरीर पोंछ लेता और फिर सीधा-सादा भला आदमी बनकर बैठ जाता।

छुट्टी का दिन देखते देखते खतम हो आया। नीचे की ड्योढ़ी में चार बज गये। इतवार की शाम को आसमान बुरी तरह मुंह बिगाड़े हुए है। आनेवाले सोमवार की मुंह-बाए-हुए ग्रहण की छाया उसे निगलने

लगी है। नीचे, इतनी देर बाद पहरे से भागे हुए लड़के की खोज शुरू हो गई है।

अब जलपान का समय हो आया। दिन के इस हिस्से में व्रजेश्वर का लाल चिह्न लगा होता। जलपान का बाज़ार करना उसीके जिम्मे था। उन दिनों के दुकानदार घी के दाम में सैकड़े पीछे तीस-चालीस का मुनाफ़ा नहीं धरते थे, गंध और स्वाद में जलपान की सामग्री तब भी ज़हरीली नहीं हो उठी थी। अगर कचौड़ी या समोसा, यहाँ तक कि आलूदम भी जुट जाता तो उसे मुंह में भर लेने में देर न लगती। लेकिन ठीक वक्त पर जब व्रजेश्वर अपनी टेढ़ी गर्दन को और भी टेढ़ी करके बोलता, देखो बाबू, आज क्या ले आया हूं, तो प्राय ही काग़ज़ के ठोंगे में बंधी हुई भुनी मूंगफली ही देखने को मिलती। उसमें हम लोगों की रुचि न हो ऐसी बात तो नहीं है पर व्रजेश्वर का आदर इसकी दर में ही था। किसी दिन हमने चूँ तक नहीं की। यहाँ तक कि जिस दिन ताड़ के पत्ते के ठोंगे से तिल की वह मिठाई निकल आती जिसे 'गजा' कहते हैं, उस दिन भी नहीं।

दिन का उजेला धुंधला पड़जाता है। उदास दिल

से एक बार छत की भी चहलक़दमी कर चुका हूं, नीचे झाँककर देखता हूं तो तालाब से बतखें भी बाहर निकल आई हैं। घाट पर लोगों का आना जाना शुरू हो गया है। बरगद के पेड़ की छाया आधे तालाब तक चली गई है, सड़क पर से बग्घी के साईस की अवाज़ सुनाई दे रही है।

६

दिन इसी प्रकार एक ही जैसा चल रहा था। दिन के बिचले हिस्से को स्कूल झपट्टा मार के चट कर जाता था, सवेरे और शाम की उसकी बचत का हिस्सा छिटक पड़ता था। कमरे में घुसते ही क्लास के टेबिल और बेंच मानो सूखी कुहनी से चोट करते थे। रोज़ उनका चेहरा एक ही तरह का अलसाया दिखता था।

शाम को घर लौट आता। स्कूल-घर में तेल की बत्ती ने अगले दिन की पढ़ाई तैयार करने के रास्ते का सिगनल पकड़ रखा है। किसी-किसी दिन आँगन में भालू नचानेवाला आ जाता, सँपेरा साप खेलाने आ जाता और ज़रा सी नवीनता की झाँकी दिखा जाता।

हमारे चितपुर रोड में अब उनकी डुगडुगी नहीं बजती। दूर से ही सिनेमा को सलाम बजाकर वे देश छोड़कर भाग भाग खड़े हुए हैं। एक तरह के कीड़े जिस तरह सूखे पत्ते के साथ अपना रंग मिला लेते हैं, पहचान में नहीं आते, उसी प्रकार मेरे प्राण भी सूखे दिनों के साथ फीके होकर मिले रहते।

उन दिनों खेल बहुत थोड़ी ही तरह के थे। मार्बल था, बैटबाल जिसे कहते हैं वह भी था, जो क्रिकेट का दूर का रिश्तेदार होता है। और फिर लट्टू नचाना, पतंग उड़ाना ये सब थे। शहर के लड़कों के खेल ऐसे ही कमज़ोर क़िस्म के थे। मैदान ढककर फुटबाल खेलने की उछल-कूद तब भी समुद्र-पार थी। इसी तरह एक ही माप के दिन सूखी खूंटियों का घेरा डालकर मेरी गति के प्रत्येक मोड़ को घेरकर चल रहे थे।

ऐसे ही समय में एक दिन बरवा रागिनी में शहनाई बज उठी। घर में नई बहू आई, कोमल अल्हड़ साँवले हाथों में सोने की पतली चूड़ियां पहने। पलक मारते ही घेड़े में सूराख़ हो गया और जान-पहचान के बाहर की सीमा से मायावी देश का नया व्यक्ति दिखाई दिया। मैं दूर ही दूर चक्कर लगाया करता, नज़दीक

जाने का साहस न होता था। वह दुलार के सिंहासन पर आ बैठी है, और मैं ठहरा उपेक्षित छोटा बच्चा।

उन दिनों मकान दो हिस्सों में बँटा था। पुरुष बाहर के हिस्से में रहते और स्त्रियां भीतर के प्रकोष्ठ में। तब भी नवाबी क़ायदा चला आ रहा था। याद आता है कि एक दिन नानी छत पर चहलक़दमी कर रही थीं, बग़ल में नई बहू थी। मन की बातें चल रही थीं। मैंने ज्योंही नज़दीक पहुंचने की कोशिश की कि एक घुड़की मिली। यह मुहल्ला लड़कों की चिह्नित सीमा के बाहर पड़ता था कि नहीं? और फिर मुझे मुंह सुखाये लौट आना पड़ा उसी काई लगे हुए पुराने दिन की आड़ में।

जब अचानक दूर के पहाड़ से वर्षा का पानी बह आता है तो पुराने बाँध का तला खधार देता है, इस बार यही हुआ। मालकिन ने घर में नया क़ानून जारी किया। बहूठाकुरानी (भाभी) को भीतर की छत से लगे हुए घर में जगह मिली। वह पूरी की पूरी छत उन्हींके दखल हो गई। गुड़ियों के ब्याह में भोज का पत्तल वहीं पड़ता। यह छोटा बच्चा ही न्योते के दिन प्रधान व्यक्ति हो उठता। बहूठाकुरानी रसोई अच्छी

बना लेती थीं और चाव से खिलाती थीं। इस खिलाने के शौक़ को पूरा करने के लिये मुझे सदा हाज़िर पातीं। स्कूल से लौटा नहीं कि उनका अपने हाथों बनाया प्रसाद तैयार मिलता। जिस दिन चिङ्ड़ी मछली (झिंगा) को चड़चड़ी में भिगोया हुआ बासी भात सान देती उस दिन का तो कहना ही क्या। बीचबीच में जब रिश्तेदारों के घर जातीं और घर के सामने उनकी जूती नहीं दिखाई देती तो मारे गुस्से के उनके घर की किसी दामी चीज़ को छिपा देता और इस तरह झगड़े का सूत्रपात करता। कहना पड़ता, तुम बाहर जाओगी तो तुम्हारा घर कौन सम्हालेगा। मैं क्या कोई चौकीदार हूं। वे क्रोध करके कहतीं, तुम्हारे घर सम्हालने की जरूरत नहीं, अपना हाथ सम्हालो।

आजकल की लड़कियों को हँसी आयेगी, कहेंगी, क्या अपने देवर के सिवा दुनिया में और कहीं कोई देवर नहीं था। बात ठीक है, मैं मानता हूं। आजकल की उमर अचानक उन दिनों की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गई है। उन दिनों बड़े छोटे सभी बच्चे थे।

इस बार मेरी निर्जन बढ़ई छत पर एक दूसरा

खेल शुरू हुआ। मनुष्य के साथ मनुष्य का स्नेह आया। मेरे ज्योतिदादा ने इस खेल को जमा दिया।

१०

छत के राज्य में नई हवा बही, ऋतु आई।

उन दिनों पिताजी ने जोड़ासाँको का रहना छोड़ दिया था। ज्योतिदादा आकर बाहर के तितल्लेवाले घर में जम गये। मैंने भी उसी कोने में ज़रा-सी जगह दखल की।

भीतरी महल का पर्दा अब जाता रहा। इन दिनों यह बात नई नहीं लगेगी, लेकिन उन दिनों यह बात इतनी नई थी कि मापकर देखने पर थाह नहीं मिलेगी। इसके बहुत दिन पहले, उन दिनों मैं बहुत बच्चा था, मझले दादा सिविलियन होकर देश लौटे थे। बंबई में पहले पहल अपने काम पर जाते समय बाहर के लोगों को अवाक करके उनकी आँखों के सामने बहूरानी को साथ ले गये। घर की बहू को परिवार के साथ रहने न देकर परदेश ले जाना ही बहुत था, फिर यहाँ

तो रास्ते में कोई पर्दा भी नहीं था। यह एकदम बेक़ायदा बात थी। अपनों के सिर पर आसमान टूट पड़ा।

उन दिनों भी औरतों मे बाहर निकलने लायक़ कपडे की चलन नही हुई थी। आजकल साड़ी-शेमीज़ की जो चलन हुई है उसे पहले पहल बड़ठकुरानी ने ही शुरू किया था।

छोटी लड़कियों ने तब भी वेणी लटकाकर फ्राक पहनने का अभ्यास नही किया था। कम से कम हमारे घर में तो यह चलन नई ही आई थी। छोटी लडकियों मे पेशवाज़ की चलन थी। बेथून स्कूल जब पहले पहल खुला था उस समय मेरी बडी दीदी की उमर थोड़ी ही थी। वहां लड़कियों की पढ़ाई-लिखाई का रास्ता सहज बनानेवालियों के प्रथम दल मे एक वह भी थीं। गोरा चिट्टा उनका रंग था। इस देश में उसकी मिसाल नही मिलती थी। सुना है एक बार जब वे पालकी में बैठ कर स्कूल जा रही थीं तब पुलिस ने उन्हें पेशवाज़ पहनी चुराई हुई अंग्रेज लडकी समझकर पकडा था।

पहले ही बता चुका हूं कि उन दिनों बडों और छोटों के बीच आने जाने का पुल नहीं था। लेकिन इन पुराने कायदों के बीच मे ज्योतिदादा एकदम विशद्ध

नया चित्र लेकर उपस्थित हुए थे। मैं उनसे उमर में बाहर बर्ष छोटा था। उमर की इतनी दूरी पर मैं भी मैं जो उनकी नज़र में पड़ा था यह आश्चर्य की बात है। और भी आश्चर्य यह है कि उनके साथ बातचीत करते समय मेरी किसी बात को छोटे मुंह बड़ी बात कहकर उन्होंने कभी मेरा मुंह बंद नहीं किया। इसीलिये कोई भी बात ऐसी नहीं रही जो मेरे साहस में न समा सके। आज बच्चों के भीतर ही मेरा रहना होता है। तरह तरह की बात शुरू करता हूं, पर देखता हूं कि उनका मुंह बन्द है। वे पूछने में हिचकते हैं। समझ जाता हूं कि ये सब उन्हीं बूढ़ों के ज़माने के लड़के हैं, जबकि बड़े बोला करते थे और छोटे गूंगे बने रहते थे। पूछने का साहस नये ज़माने के लड़कों की चीज़ है, पुराने ज़माने के लड़के सब कुछ गर्दन झुकाकर मान लेते हैं।

छत के कमरे में पियानो आया। इस ज़माने का वार्निश किया हुआ बहूबाजार का असबाब भी आया। छाती गज़ भर की हो गई। ग़रीब की आंखों में आधुनिक युग की सस्ती अमीरी दिखाई दी।

अब हमारे गान का फ़व्वारा छूटा। ज्योतिदादा पियानो के ऊपर हाथ फेरते जाते और नये नये तर्ज़ के

सुर झमाझम तैयार करते जाते ; मुझे बगल में बैठा रखते। उन छूट-भागते हुए सुरों में शब्द गूंथ देना मेरा काम था।

दिन के अन्त में छत के ऊपर चटाई और तकिया बिछ जाती। एक चांदी की रिकाबी में भीगे रूमाल में लपेटी हुई बेले की माला, रिकाबी में बरफ़ मिलाया हुआ एक ग्लास पानी और पनबट्टी में सुगंधित साँची पान।

बहूठकुरानी हाथ मुंह धोकर केश बांधकर तैयार होकर बैठतीं, देह पर एक पतली चादर फरफराते हुए ज्योतिदादा आ पहुंचते, बेले में गज़ लगा देते और मैं ऊँचे गले से गान शुरू कर देता। गले में विधाता ने जो थोड़ा बहुत सुर दिया था, उसे तब भी लौटा नहीं लिया था। सूर्यास्तकालीन आकाश के नीचे मेरा गान एक छत से दूसरी तक होता हुआ फैल जाता। दूर समुद्र से दक्खिनी हवा लहरा उठती, आसमान तारायों से भर जाता।

बहूठकुरानी ने छत को बिल्कुल बगीचा बना रखा था। छत को घेरनेवाली चहारदीवारी के खंभों पर कतार के कतार लंबे लंबे आम के पेड़, आसपास चमेली, गंधराज, रजनीगंधा, कनेर, दोलनचंपा। इससे छत

जो जख्मी हो गया था यह बात उन्होंने सोची ही नहीं। सभी अलमस्त थे।

अक्षय चौधुरी प्रायः ही आया करते। यह भी जानते थे कि उनके कंठ में सुर नहीं है; और लोग और भी अधिक जानते थे। फिर भी उनके गाने की ज़िद किसी प्रकार रोकी नहीं जा सकती थी। विशेष रूप से विहाग का उनको शौक़ था। आंख मूंदके गाते, श्रोताओं के मुख का भाव देख नहीं सकते। हाथ के पास आवाज़ कर सकनेवाली कोई भी चीज़ मिली नहीं कि उन्होंने दाँतों तले होंठ दबाये और पटापट उसे ही ठोंकने लगे। बाँये तबले का काम उसीसे निकाल लेते। जिल्द बंधी किताब होती तो काम अच्छा ही निकल जाता। भाव-विह्वल बम्भोला-बाबा मनुष्य थे। उनकी छुट्टी और काम के दिन का फ़र्क़ समझ में ही नहीं आता था।

सायंकाल की सभा भंग होती, मैं हमेशा से रतजगा लड़का था। सब सोने चले जाते और मैं ब्रह्मदैत्य का चेला बना चक्कर मारता फिरता। सारा मुहल्ला चुप्पी साधे होता। चांदनी रात में छत के ऊपर से लंबी पांत में फैले हुए दरख्तों की छाया ऐसी लगती मानों स्वप्न-लोक का चौक पूरा गया है। छत के बाहर शीशम का

सिर हिल उठता, उसके पत्ते झिलमिला उठते। पता नहीं क्यों, सबसे अधिक जो चीज़ आंखों को लगती वह था—सामने की गली के निद्रित घर की छत पर का एक ढालुआं चिलकोठा (सीढ़ी के ऊपरवाला घर)। खड़ा खड़ा वह न जाने किसकी ओर उंगली उठाये होता।

रात के एक बजते, दो बजते,—सामने की बड़ी सड़क पर से आवाज़ आती—बोल हरि, हरि बोल।

११

उन दिनों पिंजड़े में चिड़िया पालने का शौक़ घर घर था। मुहल्ले के किसी घर के पिंजरे से कोयल की आवाज़ सबसे बुरी लगती। बहूठकुरानी ने चीन देश की एक श्यामा चिरैया जुटा रखी थी। कपड़े के पर्दे के भीतर से उसकी सिसकारी फ़व्वारे की तरह छूटती। और भी किस्म किस्म के परिन्दे थे जिनके पिंजड़े पश्चिम के बरामदे में झूला करते। रोज़ सवेरे एक कीड़ा लाने वाला इन चिड़ियों की खूराक जुटाया करता था। उसकी झोली में से फतिंगे भी निकलते और सत्तूखोर चिड़ियों के लिये सत्तू भी।

ज्योति दादा मेरे नर्मी तर्कों का जवाब देते। लेकिन स्त्रियों से इतनी उम्मीद नहीं की जा सकती। एक दिन बहूठकुरानी की मर्जी हुई पिंजड़े में गिलहरी पोसने की। मैंने कहा, यह अन्याय हो रहा है। उन्होंने कहा, गुरुआई छाँटने की ज़रूरत नहीं। इसे ठीक जवाब नहीं कह सकते। इसीलिये सवाल-जवाब के दांव-पेंच में न पड़कर मुझे चुपके से दोनों प्राणियों (गिलहरियों) को छोड़ देना पड़ा। इसके बाद भी कुछ सुनने को मिला था पर मैंने जवाब नहीं दिया।

हम लोगों का एक नियत विवाद था जिसका अन्त कभी नहीं हुआ। उसे बताता हूं।

उमेश चालाक आदमी था। विलायती दर्जी की दूकान पर छँटे कटे जितने रंगबिरंगे चिरकुट होते थे उन्हें वह सस्ते दामों खरीद लाता। इसमें नेट का टुकड़ा और नकली लेस मिलाकर स्त्रियों के लिये चोली कुर्ती वगैरह तैयार करता। औरतों के सामने बड़ी सावधानी से कागज का पैकट खोलकर उन्हें सजा के रखता, कहता, यही आज-कल का नया फैशन है। इस (नया फैशन) मंत्र का आकर्षण स्त्रियों की सम्हाल के बाहर था। मुझे इससे कितनी तकलीफ़ होती सो कहके समझा नहीं

सकूँगा। बार बार मैं अस्थिर होकर एतराज़ किया करता, और जवाब में सुनने को मिलता, रहने दीजिये अपना उपदेश, लंबी-चौड़ी हाँकने की ज़रूरत नहीं है। मैं बहूठकुरानी को बताता कि उन दिनों की काली किनारीवाली या ढाकाई साड़ी इससे कहीं अधिक सुन्दर और शरीफ़ाना थी। मैं सोचता हूं कि आज-कल की जार्जेट-जटित भाभियों का रंग-पुता गुड़ियों-सा रूप देखकर देवरों के मुंह से क्या कोई बात ही नहीं निकलती। रमेश की सी हुई ढकनी पहनकर तो बहू-ठकुरानी फिर भी बहुत अच्छी दिखती थीं। उन दिनों चेहरे पर इतनी अधिक जालसाज़ी शुरू नहीं हुई थी।

तर्क में बहूठकुरानी से बराबर हारता ही रहा हूं क्योंकि वे तर्क का जवाब नहीं देती थीं, और फिर शतरंज में हारता रहा हूँ क्योंकि इसमें उनका हाथ बहुत साफ़ था।

ज्योतिदादा की बात जब चल पड़ी है तो उन्हें अच्छी तरह से पहचनवा देने के लिये और कुछ कहना ज़रूरी है। और भी कुछ पहले के दिनों से शुरू करना होगा।

ज़मींदारी का काम देखने प्रायः उन्हें शिलाईदह* जाना

---

*कवि की जमींदारी का सदर मुकाम, राजशाही (बंगाल) में।

पड़ता था। एक बार जब इसी काम के लिये निकले तो मुझे भी साथ ले लिया था। यह बात उस ज़माने के दस्तूर के खिलाफ़ थी, अर्थात् जिसे लोग 'अति' कह सकते थे। ज्योतिदादा ने निश्चय ही सोचा था कि घर से बाहर का यह आना जाना-एक चलते फिरते क्लास के समान था। उन्होंने समझ लिया था कि मेरा मन आकाश और हवा में उड़नेवाला है; वहां से मैं अपने आप खूराक पाया करता हूँ। इसके कुछ दिन बाद जब जीवन कुछ और ऊपर के क्लास में तरक्की पा गया था, तब मैं इसी शिलाईदह में आदमी बना था।

पुरानी नील की कोठी तब भी खड़ी थी। पद्मा नदी दूर थी। नीचे के तल्ले में हमारी कचहरी थी और ऊपर हमारे रहने की जगह। सामने एक खूब बड़ी छत थी। छत के बाहर बडे बड़े झाऊ के पेड़ थे जो किसी दिन निलहे साहबों (अंग्रेज) के व्यवसाय के साथ ही साथ बढ़े थे। आज कोठीवाले साहबों का रोबदाब स्तब्ध होकर ठिठक गया है। कहां हैं वे नील की कोठी के यमदूत दीवान, कहां है कंधे पर लाठी साधे कमरबंद प्यादों की पल्टन, कहां है वह लंबी मेज़वाला नाश्ते का घर जहां घुड़सवार अंग्रेज़ साहब सदर से आकर रात को

दिन कर दिया करते, भोज के साथ युगल-नृत्य का बवंडर चला करता और रक्त में उछला करता शैम्पेन का नशा। अभागी रैयत की दुहाई देनेवाली रुलाई ऊपरवालों के कान तक पहुंच ही नहीं पाती थी, उनकी हुकूमत का रास्ता लंबा होकर सदर जेलखाने तक चला करता था। उस दिन जो कुछ था वह सब मिथ्या हो गया है, सत्य होकर रह गई है उन अंग्रेजों की सिर्फ दो-क़ब्र। लंबे लंबे झाऊ के पेड़ हवा में झूले झूलते है और उस दिन की रैयत के पोते-पोतियाँ कभी कभी आधी रात को देखा करते है कि उन साहबों के भूत उस कोठी के खंडहर और बगीचों मे भटका करते है।

अकेले रहने का मन लेकर पड़ा हूं। छोटा सा कोने का एक घर है; जितनी बड़ी ढालू छत है उतनी ही आडंबरवाली मेरी छुट्टी है। अनजाने परदेश की छुट्टी है। पुरानी पोखर के काले जल की तरह इसके तल का अन्दाज़ नहीं मिलता। बऊ-कथा-कओ (पपीहा-जातीय चिड़िया) बोलती है तो बोलती ही जाती है, मैं उड़ती चिन्ताओं में पड़ा हूं तो पड़ा ही हुआ हूं। इसके साथ ही साथ मेरी कापी पद्य से भरनी शुरू हो गई है। ये

पद्य मानों आम की झड़ आनेवाली पहली बौर है, झड़ भी गये हैं।

उन दिनों छोटी उमर के लड़के, विशेष कर लड़कियां, यदि मात्रा गिनकर दो सतर पद्य लिख दिया करते तो देश के समझदार लोग सोचते कि मानों ऐसा न कभी हुआ है न कभी होगा।

अख़बारों में उन कवयित्रियों का नाम देखा था, उनकी कवितायें भी छपती थीं। इसके बाद अत्यन्त सावधानी से चौदह अक्षर दुरुस्त रखकर लिखी हुई भली भली बातें और कच्ची तुकबंदियां ज्यों ही मिट गईं त्यों ही उनके उसी नाम-मिटाये पट पर आजकल की लड़कियों के क़तार के क़तार नाम चमक उठे हैं।

लड़कों का साहस लड़कियों से कहीं कम था, लज्जा कहीं अधिक थी। उस समय किसी छोटी उमर के लड़के-कवि ने कविता लिखी हो ऐसा याद नहीं आता, एक मुझे छोड़कर। मुझसे बड़ी उमर के एक भांजे ने एक दिन बता दिया था कि चौदह अक्षर के सांचे में ढालने पर वाक्य पद्य के रूप में जम जाता है। स्वयं इस जादू विद्या का व्यापार मैंने देखा था। हाथों हाथ उस चौदह अक्षर के सांचे में कमल भी खिला, यहां तक

कि उसपर भ्रमर को वैठने की भी जगह मिली। कवियों के साथ मेरा अन्तर मिट गया और तब से यह बराबर मिटता ही जा रहा है।

याद है, छात्रवृत्ति के नीचेवाले दर्जे में जब पढ़ता था तो सुपरिंटेंडेंट गोविंद बाबू ने अफ़वाह सुनी कि मैं कविता लिखता हूं। मुझसे लिखने की फ़रमाइश की। उन्होंने सोचा था कि उनके नार्मल स्कूल का नाम चमक उठेगा। मुझे लिखना पड़ा और क्लास के लड़कों को पढ़कर सुनाना भी पड़ा और सुनना पड़ा कि यह कविता ज़रूर चोरी की है। निंदक लोग यह नहीं जान सके कि उसके बाद जब और सयाना हुआ तो भाव की चोरी करने में हाथ की सफ़ाई का मैंने अच्छा अभ्यास किया, किन्तु ये चुराई हुई चीज़ें दामी माल थीं।

याद आता है, एकबार पयार और त्रिपदी छंदों को मिलाकर मैंने एक कविता लिखी थी। उसमें यह दुःख प्रकट किया था कि तैरकर कमल के फूल-चुनते समय अपने ही हाथ की तरंगों से कमल का फूल दूर हट जाता है, उसे पकड़ा नहीं जा सकता। अक्षय बाबू मुझे अपने संबंधियों के घर लिवा जाकर यह कविता सुनवाते

फिरते थे, उनके संबंधियों ने भी कहा था कि लड़के में कविता लिखने का माद्दा है।

बहूठकुरानी का व्यवहार उल्टा था। कभी भी मैं लिखनेवाला बन सकता हूँ, यह बात वे किसी भी तरह मानने को राज़ी नहीं थीं। सिर्फ़ ताने देतीं और कहतीं, तुम कभी भी बिहारी चक्रवर्ती की तरह नहीं लिख सकते। मेरा मन मसल जाता; सोचता, इससे कहीं अधिक छोटा दर्जा भी मिल जाता तो स्त्रियों की पोशाक के संबंध में प्रकट की हुई, अपने इस नन्हे देवर की नापसन्दगी को बहूठकुरानी यों हंसकर न उड़ा सकतीं।

ज्योतिदादा घुड़सवारी के शौकीन थे। बहूठकुरानी को भी घोड़े पर चढ़ाकर चितपुर की सड़क से ईडन गार्डन में घूमने ले जाते, ऐसी घटना भी उन दिनों घटी थी। *शिलाईदह में उन्होंने मेरे लिये एक टट्टू मंगा दिया* और रथतला के मैदान में घोड़ा दौड़ा लाने को भेज दिया। मैं उस ऊबड़-खाबड़ मैदान में अब-गिरा कि तब करते-करते घोड़ा दौड़ा लाता था। उनके मन में ज़ोर था कि मैं गिरूंगा नहीं, इसीलिये मैं गिर नहीं सका। कुछ समय बाद उन्होंने मुझे कलकत्ते की

सड़क पर भी घोड़े पर चढ़ाया था। अब की बार यह टट्टू नहीं था, काफ़ी मिज़ाजी घोड़ा था। एक दिन वह मुझे पीठ पर लिये-दिये ड्योढ़ी से होता हुआ सीधे आंगन में घुस पड़ा था, जहां वह दाना खाया करता था। दूसरे ही दिन से उसके साथ मेरी छोड़ छुट्टी हो गई।

ज्योति दादा ने बंदूक चलाने में निपुणता प्राप्त कर ली थी, यह पहले बता आया हूं। उनके मन में बाघ का शिकार करने की इच्छा थी। एक दिन विश्वनाथ शिकारी ने ख़बर दी कि शिलाईदह के जंगल में बाघ आया है। वे उसी समय बंदूक चढ़ाकर तैयार हो गये। आश्चर्य की बात यह है कि मुझे भी साथ ले लिया। कुछ दुर्घटना हो सकती है, यह बात मानों उनके विचार में थी ही नहीं।

विश्वनाथ सचमुच ही उस्ताद शिकारी था। वह जानता था कि मचान पर बैठकर शिकार करना मर्द का काम नहीं है। बाघ को सामने से ललकारकर वह गोली दागता था। उसका निशाना एक बार भी नहीं चूका।

घना जंगल था। ऐसे जंगल की धूप-छाँह में बाघ दिखना नहीं चाहता था। एक मोटे बाँस की कंचियाँ फाटकर सीढ़ी-जैसी बनायी गयी थी। ज्योति दादा

हाथ में बंदूक लेकर ऊपर चढ़ गये। मेरे पैर में जूता भी नहीं था। बाघ यदि खदेड़े तो उसे जूतों से पीटूं, ऐसा भी उपाय नहीं था। विश्वनाथ ने इशारा किया। ज्योतिदादा बड़ी देर तक देख ही नहीं सके। बहुत देर की ताक-झांक के बाद बाघ के शरीर का एक चिह्न उनकी चश्मा-पहिनी आंख को दिखाई दिया। उन्होंने गोली दाग दी। संयोग वश वह उसकी रीढ़ पर लगी। बाघ को उठने का मौका ही नहीं मिला। झाड़-पत्थर जो सामने पाता उसीको वह काट खाने लगा और पूंछ पटक झटककर भयंकर गर्जन करने लगा। सोचकर देखता हूं तो मन में संदेह होता है। इतनी देर तक बाघ मरने के लिये इन्तज़ार कर रहा था यह बात जहां तक मुझे मालूम है, बाघों के स्वभाव में नहीं है। कल की रात कहीं उसके खाने में अफ़ीम तो नहीं मिलाई गई थी। इतनी नींद क्यों।

और भी एक बार शिलाईदह के जंगल में बाघ आया था। हम दोनों भाई हाथी की पीठ पर सवार हो उसकी खोज में निकल पड़े। ईख के खेत से पटा-पट ईख उखाड़कर चबाते चबाते, पीठ पर भूकम्प पैदा करता हुआ हाथी भारी भरकम चाल से चलने लगा। सामने आ गया जंगल। वह पेड़ों को पैरों से दबाता और

सूंड़ से खींचकर उखाड़ फेंकता। इस तरह कला-बाज़ी करता हुआ हाथी आगे बढ़ने लगा। इसके पहले ही विश्वनाथ के भाई चमरू से किस्सा सुन रखा था कि जब बाघ कूदकर हाथी की पीठ पर चढ़ बैठता और पंजा गड़ाकर जम जाता है तो कितना विकट संकट उपस्थित हो जाता है। हाथी उस समय गों-गों करता हुआ झाड़झंखाड़ के बीच से भागता होता है और जो आदमी उसकी पीठ पर होते हैं, पेड़ के तने के धक्के से, उनके हाथ पैर और सिर का कोई पता नहीं चलता। उस दिन हाथी की पीठ पर बैठे बैठे मेरे मन में अन्त तक यह हड्डी-पसली चूर कर देनेवाला चित्र ही चक्कर काटता रहा। शर्म के मारे डर को दबा रखा था। लापरवाही का भाव दिखाकर इधर उधर देखता रहा, मानों बाघ एक बार मिल गया तो दिखा दूंगा। हाथी घने जंगल में घुस पड़ा। एक जगह पहुंचकर ठिठक कर रुक गया। महावत ने उसे होशियार करने की कोशिश भी नहीं की। दो शिकारी प्राणियों में बाघ पर ही उसका विश्वास ज्यादा था। उसकी सबसे बड़ी चिन्ता यह थी कि ज्योतिदादा बाघ को घायल करके उसे मरने-मारने पर उतारू कर देंगे। अचानक

बाघ एक झाड़ के भीतर से कूद पड़ा, मानों मेघ के भीतर से एक वज्रवाली आँधी का झोंका निकल आया हो। हमारी दृष्टि बिल्ली कुत्ता स्यार देखने की दृष्टि है, यह तो गर्दन पर लिये हुए हैं मर्दानगी का ठाट, और फिर भी मानों इसका कोई भार ही नहीं है। दुपहरी की धूप में खुले मैदान के भीतर से वह दौड़ चला। क्या ही सुंदर और सहज था उसके चलने का वेग। खेतों में उस समय फ़सल नहीं थी। बेतहाशा भागते हुए बाघ को नज़र भर देखने की जगह यही तो है, यही धूप-ढला पीले रंग का विशाल मैदान।

एक और बात बाक़ी है; सुनने में मज़ेदार हो सकती है। शिलाईदह में माली फूल चुनकर फूलदानी में सजाकर रख जाता। मेरे दिमाग में यह झक सवार हुई कि फूल के रंगीन रस से कविता लिखी जाय। निचोड़-गारकर जो कुछ रस निकलता उससे कलम की नोक भी नहीं भींगती। सोचा, एक कल क्यों न तैयार किया जाय। छेदवाला एक कटोरा और उसके ऊपर घुमाकर चला दिया जा सकने लायक एक इमाम-दस्ते का लोढ़ा, बस इतने ही से काम चल जायगा। वह घुमाया जायगा रस्सी में बांधकर एक चक्के से।

ज्योतिदादा के पास अर्जी पेश कर दी। खूब संभव है वे मन ही मन हँसे थे पर बाहर से लगाई नहीं दिये। हुक्म जारी कर दिया, बढ़ई लोहा लक्कड लेकर हाज़िर हुआ। कल तैयार हो गया। फूल से भरे काठके कठरे में रस्सी से बँधा लोढ़ा जितना ही घुमाया जाने लगा उतना ही फूल पिसकर कीचड़ बनने लगे, रस नहीं निकला। ज्योतिदादा ने देखा कि फूल का रस और कल का दबाव इन दोनों का तुक नहीं मिला। तो भी मेरे मुंह पर हंस नहीं पड़े।

जिन्दगी में यह पहली बार इंजिनियरिंग करने उतरा था। शास्त्र में कहा है कि जब कोई आदमी जो नहीं है वही बनना चाहता है तो उसका मान मर्दन करने के लिये एक देवता सदा तैयार रहते हैं। उन्ही देवता ने उस दिन मेरी इंजिनियरिंग पर कटाक्ष किया था। तब से मेरा यंत्र पर हाथ लगाना बन्द है, यहां तक कि सितार-इसराज पर तार तक नहीं चढ़ाया।

'जीवनस्मृति' में मैंने लिखा है कि फ्लाटिला कम्पनी के साथ ज़ोर-आज़माई करके बंगाल की नदी में स्वदेशी जहाज़ चलाने के मामले में ज्योतिदादा किस प्रकार तितल्ले का डेरा उठाकर चलते बने थे।

अन्त में उन्होंने अपना ।घर बनाया था रांची के एक पहाड़ पर ।

१२

इस बार तितल्ले के घर का एक और अंक आरंभ हुआ मेरी दुनिया को लेकर ।

किसी दिन गोलाघर पालकी और तितल्ले की छत के खाली घर में मेरा खानाबदोश का-सा डेरा था, कभी यहां कभी वहां । बहूठकुरानी आईं, छत के घर के पास बगीचा लग गया । ऊपर के घर में प्यानो आया, नये नये सुरों का फ़व्वारा छूटने लगा ।

पूर्व की ओर सीढ़ी के ऊपरवाले घर की छाया में सवेरे ज्योति दादा के काफ़ी पीने का सरंजाम होता । उसी समय वे अपने किसी नाटक का पहला ख़ाका पढ़कर सुनाते । उसमें कभी कभी कुछ जोड़ देने के लिये मेरी भी बुलाहट होती, उन अत्यन्त कच्चे हाथों की लाइनों के लिये । धीरे धीरे धूप आ जाती, कौए रोटी के टुकड़े पर नजर लगाये ऊपर की छत पर हाय-

तोबा मचाने लगते, दस बज जाते, छाया जाती रहती, छत गर्म हो उठती।

दोपहर को ज्योतिदादा निचले तल्ले की कचहरी को जाते। बहूठकुरानी फलों के छिल्के छुडा छुडाकर काट काटकर सावधानी के साथ चांदी की रिकाबी में सजा देतीं। उसीके साथ उनके अपने हाथों बनाई हुई कुछ मिठाइयां भी होतीं। और ऊपर से गुलाब की पंपड़ियां छींट दी गई होतीं। ग्लास में होता कच्चे नारियल का पानी या फलों का रस या बर्फ से ठंडी की हुई ताल की मुलायम कुइयाँ। सबके ऊपर एक फूल कढ़ा हुआ रेशमी रूमाल डाल दिया गया होता। इसे मुरादाबादी खोंचे में भरकर बहूठकुरानी जलपान के समय एक दो बजे के आसपास कचहरी में भिजवा देतीं।

उस समय 'बंगदर्शन'* की धूम मची हुई थी। सूर्यमुखी और कुंदनंदिनी† घर घर अपने आदमियों की तरह आवागमन करने लगी थीं। क्या हुआ, क्या होगा, सारे देश को यही चिन्ता लगी हुई थी।

---

* बंकिम बाबू द्वारा सम्पादित बंगला मासिक पत्र।

† बंकिम बाबू के उपन्यास के दो स्त्री-पात्र।

बंगदर्शन आता तो दुपहरी को मुहल्ले भर में किसी को नींद नहीं आती। मेरे लिये सुभीता था, छीनाझपटी करने की ज़रूरत नहीं पड़ती थी क्योंकि मुझमें एक गुण था। मैं पढ़कर सुना अच्छा सकता था। बहूठकुरानी अपने आप पढ़ने की अपेक्षा मुझ से पढ़वाकर सुनना ज्यादा पसंद करती थीं। उस समय बिजली के पंखे नहीं चले थे। पढ़ते-पढ़ते बहूठकुरानी के पंखे की हवा का एक हिस्सा मैं भी वसूल कर लेता था।

१३

बीच बीच में ज्योतिदादा हवा बदलने के लिये गंगा किनारे के बगीचे में चले जाते। तब भी विलायती सौदागरी की छूत से गंगा के तीर की जात नहीं मारी गई थी। उसके दोनों किनारों के चिड़ियों के बसेरे बुच नहीं गये थे, आकाश के प्रकाश में लोहे के कल की काली काली सूँड़ों ने काली साँस नहीं फूंक दी थी।

गंगा किनारे का जो पहला वासस्थान मुझे याद है वह एक दुतल्ला मकान था। नई वर्षा आई है, मेघ की छाया स्रोत के ऊपर अपनी तरंग लहराती हुई बह चली

है। उस पार के वन के मस्तक पर मेघ की छाया काली होकर घनी हो गई है। ऐसे दिनों में प्रायः मैं गान रचा करता हूं, पर जिस दिन की बात कह रहा हूं, उस दिन ऐसा न कर सका। मेरे मन में उस दिन विद्यापति का पद जाग उठा—"ए भरा बादर माह भादर शून्य मंदिर मोर"। इसे अपने सुर के साँचे में ढालकर रागिनी की मुहर मारके अपना बना लिया। उस सुर से मीना किया हुआ गंगा किनारे का वह बदलीवाला दिन आज भी मेरी वर्षा-गान की संदूक में रखा रह गया है। याद आ रहा है, उस दिन रह रहकर हवा का झोंका पेड़ों के सिर पर झकरा रहा था, डालों और टहनियों में गुत्थमगुत्थी मच जाती थी, छोटी छोटी डोंगियाँ सफेद पाल उड़ाती हवा की ओर झुकी हुई भागी जा रही थीं और लहरें उछल उछलकर छपाक छपाक शब्द करती हुई घाटों से टकरा रही थीं। बहूठकुरानी आईं, उन्हें मैंने वही गान सुनाया। उन्होंने यह नहीं कहा कि अच्छा लगा, चुपचाप सुनती रहीं। उस समय मेरी उमर सोलह या सत्रह की होगी। अंट संट तर्क करके बतकटौवल तब भी चलती थी पर उसमें का तीखापन जाता रहा था।

इसके कुछ दिन बाद मोरान साहब के बगीचे में जगह बदली गई। उसे राजभवन कहा जा सकता है। रंगीन कांच की खिड़कियोंवाले ऊंचे-नीचे कमरे, संगमर्मर का बंधा हुआ फर्श, गंगा के ऊपर से लंबे बरामदे तक एक पर एक सजी हुई सीढ़ियां। यहां मेरी आंखों में रात जागने का नशा लगता। साबरमती नदी के किनारे की चहलकदमी के साथ यहां की चहलकदमी का ताल मिलाना चलता रहता। वह बगीचा आज नहीं है, डंडी का कारखाना लोहे के दांतों से उसे बराबर निगल गया है।

इस मोरान के बगीचे के प्रसंग में मौलसिरी के पेड़ के नीचे की एक दिन की रसोई-तैयारी की बात याद आ रही है। यह बात नहीं कि उसमें मसाले बहुत अधिक थे, उसमें हाथ का गुन था। याद आता है, जनेऊ के समय बड़ठकुरानी हम दो भाइयों के लिये हविष्यान्न बना देती थीं, उसमें गाय का घी डाला जाता। वे तीन दिन अपने स्वाद और गंध से लोभियों को मुग्ध किये रहते थे।

मेरे लिये एक बड़ी कठिनाई यह थी कि रोग मेरे शरीर को सहज ही पकड़ नहीं सकता था। घर के

और सब लड़के, जो बीमार होना जानते थे, उनके हाथों की सेवा पाया करते और उनका सारा समय, ले बैठते। मेरा हिस्सा कम पड़ जाता।

तितल्ले के वे पुराने दिन उन्हें लिये-दिये मिट गये। इसके बाद आया तितल्ले में मेरा अपना आवास। आगे के साथ इसका ठीक मेल नहीं बैठाया जा सकता।

घूमते-फिरते यौवन के सदर दरवाज़े तक आ गया हूं। अब फिर उस बचपन की सीमा की ओर ही लौटना पड़ रहा है।

अब सोलह वर्ष की उमर का हिसाब देना पड़ रहा है। इसके शुरू में ही 'भारती'* दिखाई पड़ी थी। आजकल देश में चारों ओर नई पत्रिका निकालने की व्याकुलता फूट उठी है। जब घूमकर उन दिनों के अपने पागलपन की ओर देखता हूं तो इस नशे का तेज समझ सकता हूं। मेरे जैसा लड़का जिसमें न विद्या थी न शक्ति, वह भी उस बैठक में जगह दखल करके बैठ गया और फिर भी किसीकी नज़रों को खटका नहीं, इससे जाना

---

*प्रधानतः कवि के परिवार के साहित्यकों द्वारा संपादित मासिक पत्रिका—अनु०।

जा सकता है कि चारों ओर लड़कपन की हवा का नशा छाया हुआ था। उस समय देश में एकमात्र प्रौढ़ हाथों का जो पत्र दिखाई दिया था वह था 'बंगदर्शन'। हमारी यह पत्रिका (भारती) ,कच्चे-पक्के हाथों की खिचड़ी थी। बड़े दादा जो कुछ लिखते उसका लिखना जितना कठिन था, समझना भी उतना ही कठिन था। और उसीमें मैं भी एक कहानी लिख बैठा। यह समझने की उमर उन दिनों नहीं थी कि यह किस बकवास की बुनावट है, और ऐसा जान पड़ता है मानों और लोगों की भी सोच-विचार करने की आंखें खुली नहीं थीं।

यहीं बड़े दादा की बात कह डालने का अवसर आया है। ज्योतिदादा की बैठक तितल्ले के घर में थी और बड़े दादा की थी हमारे दक्खिन में बरामदे में। एक समय बड़ी बड़ी तत्त्वकथाओं को लेकर उन्होंने अपने मन में ही डुबकी लगाई थी। यह हम लोगों की पहुंच के बाहर की बात थी। ऐसे आदमी कम थे जो उन बातों को सुन सकें जिन्हें वे लिखते या सोचते थे। यदि कोई राज़ी होकर अपने को उनकी पकड़ में आ जाने देता तो उसे वे छोड़ना ही नहीं चाहते थे, या

फिर वहां उन्हें नहीं छोड़ना चाहता था। उनपर वह जो कुछ दावा करता सो महज़ तत्व-कथा की सुनाई के बदले में। बड़े दादा का एक संगी जुटा था; उसका नाम हमें मालूम नहीं, पर सभी लोग उसे फ़िलासफ़र कहा करते थे। मेरे अन्य भाई लोग इन फिलासफ़र महाशय को बनाया करते थे। सिर्फ इसीलिये नहीं कि उनका लोभ मटन और चाय पर था बल्कि इसलिये कि दिनों दिन उनकी नाना भांति की ज़रूरतों की फ़ेहरिस्त बढ़ती ही जाती थी। दर्शन शास्त्र के सिवा बड़े दादा का एक और शौक़ था गणित की समस्याओं को हल करना। उनके अंकों से चिह्नित पन्ने दक्खिनी हवा में बरामदे में उड़ा करते थे। बड़े दादा गाना नहीं जानते थे, विलायती बंशी बजाया करते थे; सो भी संगीत के लिये नहीं, हिसाब लगाकर एक एक रागिनी को माप लेने के लिये। इसके बाद एक बार 'स्वप्नप्रयाण' नामक काव्य लिखने लगे। उसके शुरू में छंद बनाना शुरू हुआ। संस्कृत भाषा की ध्वनि को बंगला ध्वनि के बटखरे से तौल तौलकर सजा रखते और छंद बनाया करते। इनमें से कई को तो उन्होंने रखा है, कई को नहीं रखा, वे फटे पन्ने पर से ही तितर बितर हो गये। फिर

काव्य लिखने लगे। जितना लिखकर रखते उससे कहीं अधिक फेंक देते। जो कुछ लिखते वह सहज ही पसंद न आता। उनकी सब फेंकी हुई पंक्तियों को बटोर रखने लायक़ बुद्धि हममें नहीं थी। जैसे जैसे लिखते जाते वैसे वैसे सुनाते जाते, सुननेवाले उन्हें घेरकर बैठ जाते। इस काव्य रस से हम सारे घर के लोग मतवाले हो उठते थे। पढ़ने के बीच बीच में ठहाके की हँसी छलक पड़ती। उनकी हँसी से आकाश भरा रहता। हंसी की झोंक में यदि कोई पास बैठा मिल जाता तो उसे थपड़ियाकर अस्थिर कर देते। यह बरामदा जोड़ासाँको कोठी का एक निर्झर था, जब बड़े दादा शान्तिनिकेतन चले गये तो इस निर्झर का स्रोत सूख गया। मुझे केवल बीच बीच में याद आता है कि उस बरामदे के सामने के बगीचे में मन जाने-कैसा कर देनेवाली शरद् ऋतु की धूप फैली रहती और मैं गाता रहता—'आजि शरत तपने, प्रभात सपने, कि जानि परान की ये चाय' (आज शरद् की इस धूप में, प्रभात के स्वप्न में, प्राण न जाने क्या चाह रहा है)! और फिर याद आता है एक तपे हुए दिन की झाँय झाँय करती हुई दुपहरी में यह गान—हेलाफेला सारा बेला,

ए की खेला आपन सने' (खेल ही खेल में सारा दिन निकल जाता है, यह अपने ही साथ कैसा खेल खेला जा रहा है!)।

बड़े दादा का एक और अभ्यास दृष्टि आकर्षण करने योग्य था, उनका तैरना। तालाव में उतरकर ज्यादा नहीं तो पचास वार तो ज़रूर इस पार से उस पार जाते। जब पेनेटी के बगीचे में थे तब तो गंगा पार कर वे बहुत दूर तक तैरते चले जाते थे। उनकी देखादेखी हम लोगों ने भी बचपन से ही तैरना सीखा था। सीखना खुद-बखुद शुरू किया था। पाजामा भिगोकर उसे उड़ा उड़ाकर हवा से भर लेते थे। पानी में उतरते ही वह हवादार कमरबंद की तरह फूल उठता। फिर तो डूबने का भय नहीं रहता। बड़ी उमर में जब शिलाईदह के दीयर में रहता था तब एक वार तैरकर पद्मा पार कर गया था। यह वात सुनने में जितनी अचरज में डालनेवाली लगती है असल में उतनी नहीं है। उस समय पद्मा में बीच बीच में रेती पड़ी हुई थी और उसका खिंचाव ऐसा नहीं था कि उसकी सराहना की जा सके। तौभी बांगर के रहनेवालों को यह पुराना किस्सा सुनाने लायक है। कई बार मैंने

सुनाया भी है। बचपन में मैं जब डलहौज़ी पहाड़ पर पिताजी के साथ गया तब उन्होंने मुझे कभी अकेले घूमने जाने से रोका नहीं। पगडंडी पर साँपवाला सोटा लेकर निकल पड़ता और एक पहाड़ से दूसरे पहाड़ तक चढ़ जाता। इसमें सबसे मज़ेदार बात थी मन ही मन डर बना लेना। एक दिन उतराई की ओर आते आते पैर पेड़ के नीचे जमे हुए सूखे पत्तों पर जा पड़ा था। पैर को ज़रा-सी फिसलन आते ही लाठी से सम्हाल लिया था। लेकिन ऐसा भी तो हो सकता था कि सम्हाल ही न पाता। फिर तो ढालू पहाड़ पर से लुढ़कते पुढ़कते नीचे के झरने में गिर जाने में कितनी देर लगती। क्या हो सकता था, उसे खूब बढ़ा-चढ़ाकर मैंने मां से कहा था। इसके सिवा पाइन के घने जंगल में भालू से मुठभेड़ हो जाना कुछ भारी थोड़े ही था, पर यह भी ज़रूर एक सुनने लायक बात थी। ऐसी-कुछ घट सकनेवाली बात घटी नहीं इसीलिये जितना अघटन हो सकता था उसे मन में जमाकर रखा था। हमारा तैरकर पद्मा पार करने का जो किस्सा है उसका इन कहानियों से विशेष फ़र्क नहीं है।

जब मैं सत्रहवें साल में पड़ा तो 'भारती' की सम्पादकी बैठक से मुझे हट जाना पड़ा।

इसी समय मेरा विलायत जाना निश्चित हुआ था, साथ ही तै हुआ कि ज़हाज पर बैठने के पहले मझले दादा के साथ रहकर मुझे विलायती चालचलन की नींव दे रखनी चाहिये। वे उन दिनों अहमदाबाद में जज थे। मझली बहूठकुरानी और उनके लड़के-लड़कियां उस समय विलायत में थीं; और वे इस बात का इन्तज़ार कर रही थीं कि फ़र्लो लेकर मझले दादा उनके साथ हो जायँगे।

मुझे जड़ समेत उखाड़कर एक खेत से दूसरे खेत में ले आया गया। नई आबहवा के साथ समझौता हुआ। शुरू में सब कुछ में लज्जा बाधा देने लगी। चिन्ता यह थी कि नये लोगों से बातचीत करते समय अपना मान कैसे बचा सकूंगा। जिस अनजाने संसार के साथ घनिष्टता सहज नहीं थी और जिसे तरह दे देने का रास्ता भी नहीं था, वहां मेरे-जैसे लड़के का मन बारंबार ठोकर खा खाकर हैरान हो रहा था।

अहमदाबाद में एक पुराने इतिहास के चित्र में मेरा मन चक्कर काटने लगा। जज का बंगला शाहीबाग़ में

था, बादशाही ज़माने के राजभवन में। दिन को मझले दादा काम पर चले जाते, बड़े बड़े खाली घर मुंह बाये रहते, सारा दिन मैं इस प्रकार चक्कर लगाता मानों भूत लगा हुआ हो। सामने प्रकाण्ड चबूतरा था। वहां से दिखाई पड़ता कि साबरमती नदी घुटने भर जल को लौटाती हुई बालू के भीतर टेढ़ी मेढ़ी बहती चली जा रही है। चबूतरे में कहीं कहीं चहबच्चे के पत्थरों की बंधाई में मानों बेगमों के अमीराना गुसल की खबरें जमी हुई थीं।

हम कलकत्ते में बड़े हुए हैं, वहां इतिहास का वह चेहरा कहीं नहीं दिखाई देता जो गर्व से सिर उठाये हो। हमारी दृष्टि बहुत पास की ओर के ठिगने (संकीर्ण) समय में ही बंधी हुई थी। अहमदाबाद में यह पहली बार देखा कि चलता हुआ इतिहास रुक गया है, दिख रही है उसकी पीछे मुड़ी हुई कुलीनता—उसका बड़े घर के होने का गौरव। उसके पुराने दिन मानों यक्ष के धन की तरह मिट्टी के नीचे गड़े हुए हैं। मेरे मन में (यहीं) 'क्षुधित पाषाण'* की कहानी का आभास मिला था।

---

* कवि की लिखी हुई इसी नाम की प्रसिद्ध कहानी।

यह आज से कई सौ वर्ष पहले की बात है। नौबत-खाने में रोशनचौकी रात दिन आठों पहर की रागिनी में बज रही है, रास्ते में ताल-ताल पर घोड़ों के टाप की आवाज़ सुनाई दे रही है, घुड़सवार तुर्की फ़ौज के कूच का डंका बज रहा है, उनके भालों के फलकों पर धूप चमक रही है, बादशाही दरबार के चारों ओर सत्यानाशी काना-फूसी चल रही है। भीतर महल में हाथ में नंगी तलवार लिये हबशी खोजे पहरा दे रहे हैं, बेगमों के हम्माम में गुलाब-जल के फ़व्वारे छूट रहे हैं, बाजूबंद और कंकण की झनकार उठ रही है। किंतु आज वही शाहीबाग़ भूली हुई कहानी की तरह ठिठका हुआ खड़ा है, उसके चारों ओर न तो वह रंग है न वह ध्वनि; है केवल सूखे हुए दिन, रस-भरी रातें।

पुराने इतिहास की ठठरी खड़ी है, उसके सिर पर खोपड़ी है, मुकुट नहीं। उसके ऊपर छिल्का या मुखवास पहनाकर मन के अजायबघर में एक भरी पूरी मूर्ति तैयार कर सका हूं, यह कहना अत्युक्ति होगी। ज़मीन तैयार करके जो एक ढाँचा मन के सामने खड़ा किया था वह मेरी मौज का ही खेल था। कुछ याद रहता है, बहुत-कुछ भूल जाता हूं, इसीलिये इस प्रकार पैबंद

लगाना सहज होता है। अस्सी साल बाद आज जो अपना ही एक रूप सामने दिख रहा है उसमें का सब कुछ भी असल के साथ अक्षरशः नहीं मिलता, बहुत-कुछ मन-गढ़ंत है।

मेरे यहाँ कुछ दिन रहने के बाद मझले दादा ने सोचा कि जो विदेश में देश का रस दे सकें ऐसी कुछ स्त्रियों से मिला देने से शायद मेरा घर-छोड़ा मन कुछ आराम पाएगा। अंग्रेजी भाषा सीखने का भी यही सहज उपाय होगा। इसीलिये मैं कुछ दिनों के लिये बंबई के एक गृहस्थ के घर रहने लगा था। उस घर की कोई एक आज-कल की पढ़ाई-लिखाईवाली महिला अपनी शिक्षा विलायत से मांजकर चमाचम चमका लाई थीं। मेरी विद्या मामूली ही थी; मेरी ओर अगर वे लापरवाही दिखातीं तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया। पोथी-पढ़ी विद्या का आडंबर कर सकूं ऐसी पूंजी मेरे पास न थी, इसीलिये सुविधा पाते ही उन्हें बता देता कि कविता लिखने में मेरा हाथ मँजा हुआ है। जिनके निकट मैंने अपनी इस कविगिरी का परिचय दिया था उन्होंने इसे माप-जोखकर ठोक-बजाकर नहीं, बल्कि यों ही स्वीकार कर

लिया था। उन्होंने कवि से एक पुकार का नाम चाहा, मैंने दे दिया। वह उनके कानों को अच्छा लगा। उसी नाम को उन्होंने मेरे छंद में गुंथवा देना चाहा था। अपने काव्य की दिश में मैंने उसे चुन दिया था। उन्होंने उसे प्रभात काल की भैरवी के सुर में सुना। बोलीं, कवि, तुम्हारा गान सुनकर मैं शायद मरण के दिन भी प्राण पाकर बच उठूंगी। इससे जान पड़ेगा कि स्त्रियां जिसके प्रति दुलार प्रकट करना चाहती हैं उसकी बात ज़रा मधु में सानकर बढ़ा-चढ़ाकर ही कहती हैं। याद आता है, उन्हीं के मुंह से अपने चेहरे की पहली तारीफ़ मैंने सुनी थी। अक्सर उस वाहवाही में एक निपुणता पाई जाती।

जैसे, एक बार उन्होंने मुझे विशेष रूप से कहा था, तुम्हें मेरी एक बात माननी ही पड़ेगी, तुम कभी दाढ़ी न रखना—ऐसा न हो कि कभी भी तुम्हारे मुख की सीमा ढक जाय। उनकी यह बात आज तक मानी नहीं जा सकी यह सभी जानते हैं। मेरे मुंह पर हुकुम-उदूली के चिह्न प्रकट होने से पहले ही उनकी मृत्यु हो गई थी।

हमारे उस बरगद के पेड़ पर किसी किसी साल

अचानक विदेशी चिड़ियाँ आकर घोंसला लगाती हैं। उनके पंखों का नाम पहचान भी नहीं पाता कि वे चल देती हैं। वे दूर के वन से अपार सुर ले आती हैं। इसी प्रकार जीवन-यात्रा के बीच बीच में संसार के अन-चीन्हे महल से अपने-जन की दूती आती है, हृदय के अधिकार की सीमा बढ़ाकर चली जाती है। बिना बुलाये ही आती है और अन्त में एक दिन बुलाने पर भी उसे नहीं पाया जाता। जाते-जाते बचे-रहने-की चादर के ऊपर फूल-कढ़ा गोटा चढ़ा जाती है और हमेशा के लिये दिन-रात का दाम बढ़ा जाती है।

१४

जिस मूर्तिकार ने मुझे गढ़ा था उसके हाथों मेरा पहला ढाका बंगाल की मिट्टी से तैयार किया गया था। एक चेहरे की पहली झलक दिखाई दी। उसीको बचपन कहता हूं, उसमें बहुत अधिक मिलावट नहीं है। उसका माल-मसाला अपने में ही जमा था और कुछ-कुछ घर की आबहवा में और घरवालों के हाथ में था। बहुधा यहीं रचना का काम खतम हो जाता है। इसके

ऊपर पढ़ाई-लिखाई सीखने के कारखाने में जिनकी गढ़ाई-पिटाई होती है वे लोग बाज़ार में विशेष मार्कावाला दाम पाते हैं।

दैवक्रम से मैं उस कारख़ाने को प्रायः पूरे का पूरा ही छोड़ गया था। जिन मास्टरों और पंडितों को मुझे पार लगा देने के लिये विशेष भाव से रखा गया था उन्होंने निराश होकर पतवार छोड़ दी थी। ज्ञानचन्द्र भट्टाचार्य महाशय आनंदचंद्र वेदान्तवागीश के पुत्र थे, बी.ए. पास। उन्होंने समझ लिया था कि पढ़ाई-लिखाई की पक्की सड़क पर इस लड़के को चलाना मुश्किल है। कठिनाई यह थी कि पास किये हुए भले आदमी के सांचे में लड़कों को ढालना निहायत ही ज़रूरी है, यह बात उन दिनों के बुज़ुर्ग लोग इतने ज़ोर से नहीं सोचते थे। उन दिनों कालेजी विद्या के एक ही वेष्टन में धनी-ग़रीब सबको खींच ले आने का तक़ाज़ा नहीं था। हमारे कुल में उन दिनों धन नहीं था, लेकिन मान था, इसलिये यह क़ायदा टिक गया था। पढ़ाई-लिखाई की ग़रज़ इतनी चुस्त नहीं थी, ढीली-ढाली थी। एक बार छात्र-वृत्ति के नीचेवाले क्लास से डिक्रूज़ साहब की बंगाल एकेडमी

में मेरी रफ्तनी पार दी गई थी। और कुछ हो या न हो पांच भले आदमियों में बैठने लायक अंग्रेज़ी रट लूंगा, अभिभावकों को यही आशा थी। लेकिन सीखने के क्लास में मैं गूंगा-बहरा था। सभी तरह के एक्सेरसाइज़ बुक विधवा की साड़ी की तरह शुरू से अखीर तक सफ़ेद ही सफ़ेद रहा करते थे। न-पढ़ने के प्रति मेरी अजीब ज़िद देखकर क्लास के मास्टर ने डिक्रूज साहब के पास शिकायत की थी। डिक्रूज साहब ने समझा दिया कि पढ़ाई-लिखाई के लिये हम लोगों का जन्म नहीं हुआ, हर महीने फ़ीस चुका देने के लिये ही हमारा आना हुआ है। ज्ञानबाबू ने बहुत-कुछ ऐसा ही निश्चय किया था। लेकिन इसीमें उन्होंने एक रास्ता निकाल लिया था। मुझे शुरू से आख़िर तक 'कुमार-संभव' रटा दिया। घर में बंद करके 'मैकबेथ' का अनुवाद करा लिया। इधर रामसर्वस्व पंडित महाशय ने 'शकुन्तला' पढ़ा दी। इन्होंने मुझे क्लास की पढ़ाई के बाहर छोड़ दिया था, कुछ सफलता भी पाई थी। मेरे बचपन के मन की रचना में यही माल-मसाला था और थीं कुछ जैसी-तैसी बंगला किताबें जिनका कोई चुनाव-विचार नहीं था।

फिर विलायत जा पहुँचा, जीवन की रचना में विदेशी कारीगरी शुरू हुई, जिसे केमिस्ट्री में यौगिक वस्तु की सृष्टि कहते हैं। इसमें भाग्य का खेल यह देख पाता हूं कि बाक़ायदा नियम-पूर्वक कुछ विद्या सीखने में लग गया; कुछ कोशिश तो होने लगी पर अन्त तक कुछ हो नहीं सका। मझली बहूठकुरानी वहीं थीं; उनके लड़के-बच्चे थे, उन्हींमें उलझा हुआ अपने ही घर के जाल में फंसा रहा। स्कूल की दुनिया के आसपास घूमता रहा हूं, घर पर मास्टरों ने भी पढ़ाया है, किन्तु सर्वत्र पढ़ने से भागता ही रहा हूं। जो कुछ पा सका हूं वह मनुष्य के आस पास रहने का पावना है। नाना दिशाओं से मन के ऊपर विलायत की आबहवा का असर पड़ने लगा।

पालित साहब ने मुझे घर के बंधन से छुडा लिया। मैं एक डाक्टर के घर रहने लगा। उन्होंने भुलवा दिया कि विदेश आया हूं। मुझपर मिसेज़ स्काट जैसा स्नेह करती थीं वह एकदम विशुद्ध और अकृत्रिम था। मेरे लिये उनके मन में माता के समान चिन्ता रहती थी। उन दिनों मैं लंडन युनिवर्सिटी में भरती हुआ था, अंग्रेज़ी साहित्य हेनरी मार्ली पढ़ाया करते थे। वह पढ़ाई

आनेवाली किताब में रफ़्तनी किया हुआ पुराना माल नहीं था। साहित्य उनके मन में और गले की आवाज़ में प्राणवान हो उठता और हमारे उस मर्मस्थल तक पहुँच जाता जहाँ प्राण अपनी ख़ुराक चाहता है, बीच में रस वस्तु का कुछ भी नुक़सान नहीं होता था। घर आकर क्लैरेण्डन प्रेस की पुस्तकों से पढ़ने का विषय उलट-पुलट-कर समझ लेता अर्थात् अब अपनी मास्टरी करने का काम स्वयं ले लिया था। यह देखकर नाहक ही मिसेज़-स्काट सोचतीं कि मेरा मुँह सूख गया है: व्याकुल हो उठतीं। वे नहीं जानती थीं कि बचपन से ही मेरे शरीर में बीमारी के घुसने का दरवाज़ा बंद था। प्रतिदिन सवेरे गले हुए बर्फ़ के जल से स्नान किया करता। उन दिनों की डाक्टरी के मतानुसार इस प्रकार अनियम-पूर्वक जीवित रहना मानों शास्त्र की उपेक्षा करके चलना था।

मैं युनिवर्सिटी में सिर्फ़ तीन महीने पढ़ सका था। लेकिन मेरी विदेश की शिक्षा का प्रायः सारा-का-सारा मनुष्य की छूत से आया था। जो हमारे मूर्तिकार हैं वे सुयोग पाते ही अपनी रचना में *नया नया मसाला* मिला देते हैं। तीन महीने तक अंग्रेज़ों के हृदय के

नज़दीक रहने से यह मिलावट संभव हुई थी। मेरे ऊपर यह भार दिया गया था कि रोज़ शाम से लेकर रात के ग्यारह बजे तक बारी-बारी से काव्य-नाटक-इतिहास पढ़कर सुनाऊं। उस थोड़े समय में ही बहुत-कुछ पढ़ाई हो गई थी। यह क्लास की पढ़ाई नहीं थी। यह साहित्य के साथ मनुष्य के मन का मिलन था। विलायत गया, पर बैरिस्टर नहीं बना। जीवन के शुरू के फ्रेम को हिला देने लायक़ धक्का मुझे नहीं लगा। पूर्व और पश्चिम की मैत्री को अपने अन्दर स्वीकार कर सका। अपने नाम का अर्थ मैंने प्राणों में पाया है।

ज्ञातव्य

मूल पुस्तक का नाम 'छेलेवेला' है। जान पड़ता है सन् १९४० में जब रवीन्द्रनाथ दार्जिलिंग ज़िले के मंगपू नामक स्थान में विश्राम कर रहे थे उसी समय बचपन की चित्रावलि को उन्होंने 'पालकि' तथा 'बाल्यदशा' नामक दो गद्य-कविताओं में गूँथा था। मूल ग्रन्थ की जो पाण्डुलिपि रवीन्द्र-भवन, शान्तिनिकेतन में सुरक्षित है, उसमें उक्त दोनों कविताएँ मिलती हैं। इस ग्रन्थ के प्रसङ्ग में रवीन्द्रनाथ की 'जीवन-स्मृति' पुस्तक भी पठनीय होगी। हमें आशा है कि रवीन्द्र-ग्रन्थावली के सुधी पाठकों को हम उस ग्रन्थ का अनुवाद भी शीघ्र भेंट कर सकेंगे।

पुस्तक की भूमिका में उल्लिखित 'गोसाईं जी' विश्वभारती शान्ति-निकेतन के बँगला-पाली-संस्कृत के प्रधान अध्यापक हैं।

पृष्ठ १४—सँझले दादा : हेमेन्द्रनाथ ठाकुर। रवीन्द्रनाथ अपने भाई-बहनों में सबसे छोटे थे।

पृ० २७—मझले काका : गिरीन्द्रनाथ ठाकुर—विख्यात शिल्पी अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के पितामह।

पृ० ३७—बड़ी लड़की : प्रतिमा चौधुरी—अन्तिम आशुतोष चौधुरी की पत्नी।

पृ० ३७—विष्णु : विष्णुचन्द्र चक्रवर्ती—ध्रुपद के प्रसिद्ध गायक।

पृ० ४१—ब्राह्मसंगीत : ब्राह्मसमाज की उपासनाओं में गाया जानेवाला संगीत।

पृ० ४१—श्रीकण्ठबाबू : श्रीकण्ठ सिंह—लार्ड सत्येन्द्रप्रसन्न सिंह के बड़े चाचा।

पृ० ४४—यदु भट्ट : विख्यात गायक यदुनाथ भट्टाचार्य।

पृ० ४५—गोलाबाड़ी : गाँवों में धान जमा कर रखने का गोलाकार घर।

पृ० ४७—नीलकमल मास्टर : नीलकमल घोषाल—नार्मल स्कूल के अध्यापक।

पृ० ४८—'सीतार वनवास' : ईश्वरचन्द्र विद्यासागर-रचित प्रसिद्ध गद्य-ग्रन्थ।

पृ० ४८—'मेघनादवध' : माइकेल मधुसूदन दत्त-रचित महाकाव्य।

पृ० ५५—भाभी : ज्योतिरिन्द्रनाथ की पत्नी कादम्बरी देवी; पृ० ६३ द्रष्टव्य।

पृ० ५५—'बंगाधिप पराजय' : बङ्किमचन्द्र के समकालीन प्रतापचन्द्र घोष का उपन्यास।

पृ० ५७—पण्डा मार्क मुनि : शुक्राचार्य के पुत्र, प्रह्लाद के गुरु। किसी प्राचीन बँगला शिशुपाठ्य से तात्पर्य है।

पृ० ५८—पिताजी : महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर।

पृ० ६३—नई बहू : कादम्बरी देवी; इस समय रवीन्द्रनाथ की उम्र सात वर्ष की थी।

पृ० ६६—ज्योतिदादा : ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर — महर्षि देवेन्द्रनाथ के पञ्चम पुत्र।

पृ० ६६—जोड़ासाँको : ठाकुर परिवार का वासस्थान—कलकत्ते का वह मुहल्ला जहाँ रवीन्द्रनाथ का जन्म हुआ था।

पृ० ६६—मझले दादा : सत्येन्द्रनाथ ठाकुर—प्रथम भारतीय सिविलियन।

पृ० ६६—बहू ठकुरानी : मझली भाभी—ज्ञानदानन्दिनी देवी।

पृ० ६७—बेथ्युन स्कूल : कलकत्ते में नारीशिक्षाप्रवर्त्तक ड्रिङ्क-वाटर बीटेन का सुप्रसिद्ध विद्यालय।

पृ० ६७—बड़ी दीदी : सौदामिनीदेवी गंगोपाध्याय।

पृ० ७०—अक्षय चौधुरी : अक्षयचन्द्र चौधुरी—ज्योतिरिन्द्रनाथ के सहपाठी—तत्कालीन प्रधान बँगला कवि।

पृ० ७६—एक भांजे : सत्यप्रसाद गंगोपाध्याय—सौदामिनी देवी के पुत्र—रवीन्द्रनाथ के घनिष्ठ सहचर।

पृ० ७७—पयार और त्रिपदी : पयार चौदह मात्रा का एक बँगला छन्द है जिसकी प्रत्येक पंक्ति में दो पद होते हैं। त्रिपदी तीनपदवाला पयार का ही वर्द्धित रूप है।

पृ० ७८—बिहारी चक्रवर्ती : बिहारीलाल चक्रवर्ती—बँगला साहित्य में गीतिकाव्य के प्रवर्त्तक ; अपनी पुस्तक 'आधुनिक साहित्य' में रवीन्द्रनाथ ने अपने काव्यगुरु के रूप में उनका उल्लेख किया है।

पृ० ८३—ग्लैडिला कम्पनी—सुप्रसिद्ध विलायती नेविगेशन कम्पनी।

पृ० ८८—मोरान साहब के बगीचे में : गंगा के तट पर चन्दननगर में स्थित उद्यान।

पृ० ८८—साबरमती : अहमदाबाद में ; पृष्ठ ९६ द्रष्टव्य।

पृ० ९०—बड़े दादा : द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर।

पृ० ९३—पेनेटी : पानीहाटी—कलकत्ते का एक उपनगर।

पृ० ९५—लड़के-लड़कियाँ : सुरेन्द्रनाथ ठाकुर और इन्दिरादेवी चौधुरानी।

पृ० ९८—गृहस्थ : दादोबा पाण्डुरङ्ग।

पृ० ९८—महिला : अन्ना तर्खड।

पृ० १०१—आनन्दचन्द्र वेदान्तवागीश : महर्षि देवेन्द्रनाथ के अन्तरङ्ग एक पण्डित।

पृ० १०१—बंगाल एकेडेमी : डी० क्रूज़ साहेब का एंग्लो-इण्डियन विद्यालय।

पृ० १०२—रामसर्वस्व पण्डित : रामसर्वस्व भट्टाचार्य—मेट्रोपालिटन इंस्टिट्यूशन के हेड पण्डित।

पृ० १०३—पालित साहब : लोकेन पालित।

पृ० १०३—डाक्टर : डाक्टर स्काट।

पृ० १०३— हेनरी मार्ली : लन्दन यूनिवार्सिटी के अंग्रेज़ी साहित्य के अध्यापक।